

श्रीविश्वेश्वरो विजयते ।

अद्वैतमतविमर्शखण्डन

[द्वितीय-प्रकाश]

अद्वैतविद्यामार्त्तण्ड विविधदुर्वादविधूननैक-
परायण वादिमण्डलमूकीभावविधानैक-
व्रतदीक्षित परमशिवभागवत श्रुति-
स्मृति-सदाचारपरिपालनैकनिबद्धादर श्री
विश्वेश्वरचरणानुध्याननिरत परम
शिवैकरसताऽऽपन्न गुरुवर्य्यमहा-
महोपाध्याय विद्यामार्तण्ड
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रपण्डितराज
श्री ६ शिवकुमार मिश्र
शास्त्री महोदय
के
उपदिष्ट मार्ग के अनुयायी
तदीय शिष्य
काशी-मारवाड़ी संस्कृत कालेज प्रधानाध्यापक
श्री हाराणचन्द्र भट्टाचार्य्य
द्वारा
लिखित ।

विक्रम संवत् १९८९
पौष शुक्ल त्रयोदशी
सोमवार ।

श्रीविश्वेश्वरः शरणम् ।

भूमिका ।



श्री माध्व सम्प्रदायाचार्य्य श्री स्वामी सत्यध्यानतीर्थजी महाराज के पक्ष से पहले हमें 'अद्वैतमतविमर्श' (२ पुष्प) मिला था, जिसका खण्डन इस समय प्रकाशित किया जाता है। शास्त्रीय विषयों में हमसे मौखिक विचार करने में असमर्थ श्री स्वामीजी ने लेखबद्ध विचार में भी किस प्रकार योग्यता दिखाई है, इसका पता शास्त्र सर्म्मज्ञ सज्जनों को इस 'खण्डन' के द्वारा लग जायगा। इसलिये इस विषय में हमें कुछ कहना नहीं है। हमारे शास्त्रीय लेखबद्ध दृढ़ विचार से घबड़ाकर अब श्री स्वामीजी अज्ञ जनता के आंखों में धूल झोंकना चाहते हैं। 'अद्वैतमतविमर्श' में आदि से लेकर अन्त तक शाङ्कर मत को बौद्ध तथा अवैदिक मत कहकर श्रीशङ्कराचार्य पर आस्तिक पुरुषों की अश्रद्धा उत्पन्न करने की कुचेष्टा की गयी। अब "खण्डन" का धक्का खाकर श्रीस्वामी जी श्रीशङ्कराचार्य्य को 'वैदिक सनातन धर्म्मियों के धर्म्माचार्य पद पर प्रतिष्ठित करने के लिये द्रव्य खर्च कर लेखकों की नियुक्ति द्वारा प्रयत्न कर रहे हैं। श्री शङ्कराचार्य्य को धर्म्माचार्य्य पद पर प्रतिष्ठित करने के लिये आपकी धृष्टता को सुनकर किस को हंसी न आवेगी? आपका माध्वमत चलने के पहले ही श्रीशङ्कराचार्य अद्वितीय धर्माचार्य्य माने गये हैं। आपही के देश में धर्म्माचार्य्य की हैसियत से किसका मान अधिक है— शृंगेरी मठ के श्रीशङ्कराचार्य्य का या आप का? आप उनके अधीन हैं—यह रहस्यज्ञ सभी सज्जन जानते हैं। तब यह झूठी बात का क्या अवसर है? श्रीशङ्कराचार्य्य के सभी मठ में मन्दिर की प्रतिष्ठा, मूर्तिपूजा इत्यादि परम्परा से चला आता है, काशी में तथा अन्यत्र भी श्री शाङ्कर मत के अनुयायी स्मार्त्त लोग मूर्त्तिपूजा, याग यज्ञ इत्यादि शास्त्रविहित समस्त कर्म्म आजतक करते चले आरहे हैं, केवल वे आपकी तरह परस्पर द्वेष फैलाना नहीं जानते हैं, तो इस स्थिति में शाङ्करमत के प्रचार से नास्तिकता फैलने की आशङ्का कहां से आती है,—यह स्वाभाविक बुद्धि से समझना असम्भवही है। 'खण्डन' के प्रभाव से आप श्रीशङ्कराचार्य्य के भक्त बन गये, यह खण्डन की सफलता है। परन्तु अभी

तक वञ्चनाबुद्धि आपको नहीं छोड़ती है, इसकी दवाई की अन्य व्यवस्थान की जायगी।

चतुरशिरोमणि श्री स्वामीजी श्रीशङ्कराचार्य्य के ग्रन्थों से आदि तथा अन्त को छोड़कर वाक्यों को उद्धृत कर लोगों में भ्रम फैलाते हैं। श्री शङ्कराचार्य्य ने चतुर्थाश्रम में—संन्यासावस्था में कर्म्म तथा यज्ञोपवीतादि को विधिपूर्वक परित्याग करने के लिये उपदेश दिया है। वह भी विधि श्रुतिसिद्ध है,—बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय में यह बात स्पष्ट है। उससे पहले अन्य आश्रमों में देवपूजादि करना चाहिये उससे देवता प्रसन्न होकर ब्रह्मज्ञान के अनुकूल हो जाते हैं—यह बृहदारण्यक भाष्य-प्रथमाध्याय में श्रुति प्रमाणसे श्रीशङ्कराचार्य्य ने सिद्ध किया है। शारीरकभाष्य—तृतीयाध्याय में स्वर्गादि लोक की सत्ता तथा यज्ञादि कर्म्म की कर्त्तव्यता वेद प्रमाण सिद्ध मानी गयी है। जिस पुरुष को ब्रह्मसाक्षात्कार होनेसे सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होगयी, उसकी दृष्टिमें ब्रह्मसे अतिरिक्त स्वर्ग, मनुष्य, नरक, पशुपक्षी इत्यादि कुछभी प्रतीत नहीं होता है। इसी ब्रह्मदर्शी-पुरुष के अभिप्रायसे स्वर्गादि का अभाव कहा है। आप यदि शांकर मत को बौद्धमत कहने का दावा रखते हैं तो पहले आपको इस बातको सिद्ध करना होगा कि, बौद्धों ने भी वैदिक देवताओं की पूजा यज्ञादि करने का उपदेश अपने शास्त्रों में दिया है। यदि यह सिद्ध करने में आप असमर्थ हैं तो काशी तीर्थ में श्रीगङ्गाजी के तट पर बैठ कर वृद्धावस्था में लोकवञ्चना तथा साम्प्रदायिक कलह फैलाकर देश का सर्वनाश करने का अधिकार आपको नहीं है। आप 'खण्डन' के धक्के से कुछ सीधे अवश्य हुए, अब श्रीशङ्कराचार्य्य को बौद्ध बनाने का हठ आपका छुट गया है, इस समय अज्ञ जनता को धोखा देकर आप शाङ्कर मत को बौद्ध मत बनाना चाहते हैं। हम जनता को चेतावनी देते हैं—वह श्रीस्वामीजी की बात पर श्रद्धा न करे, श्रीस्वामीजी धोखा देकर विपरीत समझाना चाहते हैं। शाङ्करमत हृदयग्राही और श्रुति के अनुकूल है। वैदिक विवर्त्तवाद सिद्धान्त अत्यन्त गम्भीर है। काशी के आजतक जो प्रधान पण्डित थे-परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य श्री विशुद्धानन्द सरस्वतीजी, श्रीबालशास्त्रीजी, म० म० श्री शिवकुमार शास्त्री जी, म० म० श्री गङ्गाधर शास्त्री जी, म०म० श्रीदामोदर शास्त्री जी, म० म० श्रीकैलासचन्द्रशिरोमणि जी, म० म० श्रीसुब्रह्मण्य शास्त्री जी प्रभृति विशिष्ट सन्यासी तथा विद्वान् सभी शाङ्कर मत के अनुसार स्मार्त्त

मार्ग को मानते थे। इन शिष्ट पुरुषों के शाङ्कर मत में होने के कारण शाङ्कर मत ही वैदिक सिद्ध होता है।

यदि सत् तथा असत् से भिन्न तत्त्व का प्रतिपादन करने से ही वह शास्त्र बौद्धशास्त्र होता है तो गीता भी बौद्ध शास्त्र हो जायगी। गीतामें भी कहा है—

अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।

आधुनिक धारक श्रीशङ्कराचार्य्य के सिद्धान्त के आधार पर सनातनधर्म्म का ध्वंस करना चाहते हैं, आप का यह कथन निर्मूल तथा वञ्चनामात्र है। यदि आधुनिक सुधारक शाङ्कर मत को समझ कर स्वीकार करते तो उनकी विपरीत नास्तिक बुद्धि अवश्य निवृत्त होजाती। नास्तिक्य के नाश के लिये श्रीशंकराचार्य्य का अवतार हुआ, वृद्धि के लिये नहीं हुआ। आप पहले अपनी पुस्तकमें श्रीशङ्कराचार्य्य पर अश्रद्धा उत्पन्न करने का पूर्ण प्रयत्न कर फिर इस समय श्रीशङ्कराचार्य्य पर, कृत्रिम प्रेम प्रकट करते हुए शाङ्करमत का रहस्य बताने का दावा करते हैं—इसी ब्याजसे उसको बौद्धमत सिद्ध कर रहे हैं, यह आपकी एक विचित्र माया है।

हम जनता को फिर कहते हैं—श्रीशङ्कराचार्य्य वेद, स्मृति, पुराण प्रभृति शास्त्रों को अक्षर अक्षर प्रमाण मानते थे। उनका सिद्धान्त विशुद्ध वैदिक सिद्धान्त है, यह उनके समस्त ग्रन्थों से सिद्ध होता है। वैदिक सनातन धर्म्म की रक्षा के लिये भगवान् श्रीशङ्कराचार्य्य का अवतार हुआ था। उसके विरुद्ध श्रीशङ्कराचार्य्य का सिद्धान्त होना असम्भव है। इसलिये मायावी जनों के कपट वचनों से भ्रम में पड़ कर श्रीशङ्कराचार्य तथा उनके सिद्धान्त पर कोई भी अश्रद्धा न करें।



श्रीविश्वेश्वरो विजयते ।

अद्वैतमतविमर्शखण्डन

[द्वितीय प्रकाश]

[ले०—हाराणचन्द्र भट्टाचार्य्य—प्रधानाध्यापक, मारवाड़ी संस्कृत कालेज काशी]

वक्तारमासाद्य यमेव नित्या
सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽभूत् ।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का
नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम् ॥ [संक्षेपशारीरक]

अवतरणिका ।

श्रीमाध्वसंप्रदायाचार्य्य स्वामी श्रीसत्यध्यान तीर्थजी महाराज ने काशीमें साम्प्रदायिक कलह फैलाने की दृढ़ प्रतिज्ञा की है, इस लिये हमारी सविनय प्रार्थना पर ध्यान न देकर आप भगवान् श्रीशङ्कराचार्य को बौद्ध सिद्ध करने के व्यर्थ प्रयास से निवृत्त नहीं होते हैं। आप जनता की दृष्टिमें धूल झोंककर बौद्ध विध्वंसी भगवान् श्रीशङ्कराचार्य्य को बौद्ध बनाना चाहते हैं। देशकी वर्त्तमान परिस्थिति में साम्प्रदायिक विवाद अत्यन्त अनुचित तथा असामयिक होने पर भी आप बाहर से आकर इस शान्तिमय शिवपुरीमें—जिस स्थानमें शैव तथा वैष्णव दोनों भगवान् श्रीविश्वेश्वरके गोदमें चिरकालसे परस्पर प्रेम पूर्वक निवास करते हैं उसी स्थानमें—शैव वैष्णवों का वृथा कलह खड़ा करना चाहते हैं। श्री स्वामीजी पण्डित कहे जाते हैं परन्तु पाण्डित्य का फल आग्रह-शून्यता आपमें होने की आशा निष्फल हो रही है।

हम अद्वैतवादियों का किसी से विरोध नहीं है, आपके द्वैत-वादियोंमें ही परस्पर विरोध है। भगवान् गौड़पादाचार्य्यने कहा है—

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।
परस्परं विरुद्धयन्ते तैरयं न विरुध्यते ॥

[माण्डूक्य कारिका ३।१७]

आप के द्वैत मतों में परस्पर विरोध है; उस पर इस समय हमें कुछ कहना नहीं है। विशेष कर, अन्यमत पर आक्षेप करना हम रुचिकर नहीं समझते हैं। आपने परम पूज्य भगवान् श्रीशङ्कराचार्यपर निर्मूल आक्षेप सूचक पुस्तक काशीमें वितरण कर हमलोगों के हृदयमें तीव्र वेदना उत्पन्न की है, इस कारण बाध्य होकर हमें पुनः पुनः आपका सुदृढ़ भ्रम हटानेके लिये लेखनी उठानी पड़ती है।

अद्वैतमत और बौद्धमतमें श्रीस्वामीजीका स्वीकृत भेद।

'अद्वैतमत विमर्श खण्डन' में अद्वैतमत तथा बौद्धमत में भेद दिखलाये गये थे, उनमें कई भेद श्रीस्वामीजी मान लिये हैं; क्योंकि, उनका खण्डन आपके नव प्रकाशित पुस्तक (अ० म० वि० द्वितीय पुष्प) में नहीं किया गया है। जो सत्य बात है, उसको मानना पड़ता है, दिन में जब श्रीसूर्य्य भगवान् प्रकाशित हैं, उस समय में कोई सूर्य्य का अपलाप करे तो वह स्वयं ही मूढ़ समझा जाता है। मैंने दिखलाया था—

(१) शाङ्करमत तथा बौद्धमतमें प्रमाण—संख्या में मत भेद है, बौद्ध दो प्रमाण (प्रत्यक्ष तथा अनुमान) मानते हैं, शाङ्करमत में छः प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि) माने जाते हैं। [अद्वैतमत विमर्श खण्डन ४-५ पृ०]

(२) बौद्ध वेद का व्यावहारिक प्रामाण्य भी नहीं मानते हैं। अद्वैती वेद का प्रामाण्य मानते हैं, स्मृतिको भी प्रमाण मानते हैं। [अद्वैत विमर्श ख० ५ पृ०]

(३) बौद्धों के मतमें ज्ञान मात्र का अप्रामाण्य स्वतः है, प्रामाण्य परतः है, शाङ्करमतमें ज्ञानमात्र का प्रामाण्य स्वतः है: अप्रामाण्य परतः है। [अद्वैत विमर्श ख० ६-७ पृ०]

हमारी इन बातों का खण्डन श्रीस्वामी जी नहीं कर सके, दोनों मतों के भीतर इतना भेद उनको स्वीकार करना पड़ा। यदि मान लिया जाय कि, शाङ्कर मत तथा बौद्ध मतमें इतना ही भेद है, तथापि दोनों मत को अभिन्न कहना अज्ञता सिद्ध हुई।

अद्वैतमत के वैदिकत्व का स्वीकार।

हमने अद्वैत मत का वैदिकत्व सिद्ध किया [अद्वैतविमर्श ख०

७-८ पृ०] श्री स्वामीजी उसका खण्डन करने में असमर्थ हुए। श्री शङ्कराचार्य्य पर किये गये आक्षेपों का समाधान किया गया, 'मायावादमसच्छास्त्रम्' इत्यादि वाक्यों को अप्रमाण सिद्ध किया [अद्वैतविमर्श ख० ८—११ .पृ०] श्री स्वामी जी उसका भी उत्तर न दे सके। इस प्रकार से स्वामीजी को निरुत्तर होकर अद्वैतमत को वैदिक मत मानना पड़ा। शास्त्रकारों ने भी कहा है, अप्रतिषिद्धं परमतमनुमतं भवति।

श्रीमाध्वमत तथा नास्तिक मत में सादृश्य।

इतने पर भी श्री स्वामीजी सत्य के अपलाप तथा अज्ञता के हाथ से नहीं बच सके! आप लिखते हैं—"बौद्धो में मुख्यतः दो भेद हैं—एक शून्यवादी बौद्ध तथा दूसरे विज्ञानवादी बौद्ध।"

हमने लिखा था—"विज्ञानवादी तथा शून्यवादी के अतिरिक्त सर्वास्तित्ववादी सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक भी बौद्ध हैं। श्रीमाध्व भी सर्वास्तित्ववादी हैं, तथा बौद्ध अहिंसा, सत्य, अस्तेय इत्यादि को धर्म्म मानते हैं, श्री माध्व भी मानते हैं। बौद्धोंसे अनेक विषयों में मतभेद होने पर भी यदि शाङ्करमत बौद्ध मत समझा जाय तो पूर्वोक्त विषयोंमें ऐक्य होने से श्री माध्वमत को बौद्धमत क्यों न समझा जाय?" (अद्वैतमतविमर्श ख० ७ पृ०)

हमारे इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ श्री स्वामी जी बाह्यार्थवादी बौद्ध सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक की बौद्धों में गणना न कर बौद्धों के दो ही भेद मानने लगे। परन्तु श्रीस्वामी जी का कथन समस्त प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों से विरुद्ध है—

"ते च माध्यमिकयोगाचारसौत्रान्तिकवैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धा यथाक्रमं सर्वशून्यत्वबाह्यशून्यत्वबाह्यार्थानुमेयत्वबाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठन्ते।"

"यद्यपि भगवान् बुद्ध एक एव बोधयिता तथाऽपि बोद्धव्यानां बुद्धि भेदाच्चातुर्विध्यम्।"

[सर्वदर्शनसंग्रह—बौद्धदर्शन]

"माध्यमिकयोगाचारसौत्रान्तिकवैभाषिकसंज्ञाश्चतुर्विधा बौद्धाः।"

[शिवार्कमणिदीपिका २। २। १७]

"इह हि भगवता बुद्धमुनिना वैदिकमार्गविप्लावनाय चत्वारि

मतान्युत्तममध्यमाधमभेदेन प्रवर्त्तितानि+ +तत्र बाह्यास्तित्ववादिनो द्विविधाः-सौत्रान्तिका वैभाषिकाश्च।"

[अवैदिक दर्शनसंग्रह (वाणी विलास प्रेस) १-२ पृ०]

औरभी अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक बौद्धोंका विवरण है। सर्वसिद्धान्तसंग्रह (शङ्कराचार्य्य) षड्दर्शनसमुच्चय (राजशेखर) विवेक विलास, इत्यादि में भी बाह्यार्थवादी बौद्धों के मत का विवरण है।

काश्मीर के वैभाषिक मतवादी बौद्धों का 'अभिधर्म्मकोश' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जो सर्वास्तित्ववादी बौद्धोंका प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में 'तृतीय कोषस्थान' में स्वर्गनरकादि का निरूपण किया है, इससे सिद्ध होता है कि, ये बौद्ध स्वर्ग नरकादि परलोक मानते थे, इस मत में जगत् का वैचित्र्य कर्म्म से माना गया, कायिक वाचिक मानस भेद से त्रिविध कर्म्म माना है—

कर्म्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत्।
चेतना मानसं कर्म्म तज्जे वाक्कायकर्म्मणी॥

[अभिधर्मकोश ४।१]

इस 'अभिधर्म्मकोश' के 'चतुर्थकोषस्थान' में पाप, पुण्य, दान-धर्म्म प्रभृति का वर्णन है।

जैन भी जगत् को सत्य मानते हैं, दान, दया, परलोक आदि भी मानते हैं।

अब प्रश्न है, प्रपञ्च को अध्यस्त मानने पर शाङ्कर मतको यदि बौद्ध तथा अवैदिक समझा जाय तो प्रपञ्च को पारमार्थिक मानने वाले श्रीमाध्व का मत सर्वास्तित्ववादी बौद्धों का मत तथा जैन-मत क्यों न समझा जाय? यदि अन्य विषयों में मतभेद होने से श्रीमाध्वमत सर्वास्तित्ववादी बौद्ध तथा जैन का मत नहीं है तो प्रपञ्च को अध्यस्त मानने पर भी अनेक विषयों में मतभेद होने के कारण शाङ्करमत भी बौद्ध मत नहीं हो सकता।

बौद्ध विज्ञानवाद से अद्वैतवाद का भेद।

श्रीस्वामीजी लिखते हैं—[अद्वैतमतविमर्श २ पुष्प, ८ पृ०]

"विज्ञानवादी बौद्धों का विज्ञानवाद—

विज्ञान एक सत्य है, उस विज्ञान में समस्त जगत् कल्पित है।" यही बात श्रीस्वामीजी 'अद्वैतमतविमर्श' के १६, १७, १८ पृष्ठों में पुनः पुनः कहे हैं। परन्तु विज्ञानवादी बौद्धों के ही ग्रन्थोंमें विज्ञान को क्षणिक तथा अनेक कहा है।

प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक श्रीशान्तरक्षित के 'तत्वसंग्रह में विज्ञान के एकत्वका खण्डन है, यह पहले 'अद्वैतमत विमर्श खण्डन' (२पृ०) में दिखाया गया है। यदि विज्ञानवादी बौद्धों के सिद्धान्त में विज्ञान का एकत्व होता तो विज्ञानवादी बौद्ध श्रीशान्तरक्षित उसका खण्डन करने में क्यों प्रवृत्त होते। कोई ग्रन्थकार अपने ही सिद्धान्तको खण्डन करे यह कदापि सम्भव नहीं है। नीचे श्रीकमल शीलकी पञ्जिका-सहित तत्वसंग्रहका वचन उद्धृत किया जाता है, जिससे विज्ञानवादी बौद्ध के मत में विज्ञान का क्षणिकत्व और अनेकत्व स्पष्ट प्रतीत होगा। यह ग्रन्थ अद्वैतवादी श्रीशङ्कराचार्य्य के 'औपनिषद' मत के खण्डन के अवसर में आया है,—

'किंचास्मिन् पक्षे बन्धमोक्षव्यवस्था न प्राप्नोतीति दर्शयति-विपर्य्यस्तेत्यादि। (पञ्जिका)

विपर्य्यस्ताविपर्य्यस्तज्ञानभेदो न विद्यते।
एकज्ञानात्मके पुंसि बन्धमोक्षौ ततः कथम्॥

[तत्त्वसंग्रह ३३३]

यस्य हि प्रतिक्षणध्वंसि प्रतिपुरुषमनेकमेव विज्ञानं सन्तानभेदि प्रवर्त्तत इति पक्षस्तस्य विपर्य्यस्ताविपर्य्यस्तज्ञानप्रबन्धोत्पाद-वशाद्बन्धमोक्षव्यवस्था युक्तिमती। * * * यस्य तु पुनर्भवतो नित्यैकज्ञानस्वभाव आत्मेति पक्षस्तस्य कथमेकज्ञानात्मके पुंसि बन्धमोक्षौ भवतः। (पञ्जिका)

विज्ञानवादी बौद्धके ग्रन्थोंमें विज्ञानको क्षणिक तथा अनेक लिखा है, यह ऊपर उद्धृत तत्त्वसंग्रह तथा पञ्जिका से स्पष्ट होता है। श्रीस्वामीजी बौद्ध ग्रन्थोंका परिशीलन न कर केवल हठसे विज्ञानवादी बौद्धके मतके विवरणमें पुनः पुनः विज्ञानको एक कहते हैं।

श्रीस्वामीजी ने लिखा है—"बौद्ध भी विज्ञान तत्त्व को नित्य

मानते हैं-ऐसा अद्वैत ग्रन्थकारों ने भी अपने अपने ग्रन्थों में कहा है।" (अद्वैतमतविमर्श १७ पृ०)

जिन ग्रन्थों के आधार पर श्रीस्वामीजी इस प्रकार लिखते हैं, उन ग्रन्थों का अभिप्राय आपने अभी तक न समझा। जब विज्ञान वादी अपने ग्रन्थों में विज्ञान को क्षणिक तथा अनेक कहते हैं तो श्रीस्वामीजी को दूसरों के अनालोचित ग्रन्थों से उनके मत को अन्यथा समझने का क्या अधिकार है! इस प्रकार से श्रीस्वामीजी ने ग्रन्थों का उत्तमरूप से परिशीलन न कर नित्य विज्ञानवादी अद्वैतियों को क्षणिक विज्ञानवादी योगाचारों मे मिला रहे हैं। क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध के मत से नित्य विज्ञानवादी वेदान्ती का मत अलग है यह न्याय सिद्धान्त मुक्तावली प्रत्यक्ष खण्ड—आत्म निरूपण प्रकरण में भी स्पष्ट लिखा है, श्रीस्वामीजी के ध्यान में यह भी नहीं है और आप श्रीशंकराचार्य को बौद्ध सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत हैं, इससे आश्चर्य क्या हो सकता है?

श्रीस्वामीजी लिखते हैं—विज्ञानवादी बौद्ध के मत में उस विज्ञान में समस्त जगत् कल्पित है (अ० म० वि० २ पुष्प ८ पृ०) इस प्रकार की उक्ति 'अद्वैतमतविमर्श' १६ वे पृष्ठमें भी मिलती है। इसी पुस्तक के १८ वें पृष्ठ में श्रीस्वामीजी लिखते हैं—'विज्ञानतत्व एक सत्य है, और समस्त जगत् मिथ्या (झूठा) है। इन मुख्य दो विषयों में अवैदिक बौद्धमत को अद्वैत मत से सादृश्य होने पर भी विज्ञानतत्व नित्य है' केवल इतनाही बौद्धमत से विशेष रहने के कारण अद्वैतवाद वैदिक किस प्रकार होगा! (अद्वैतमतविमर्श८)

वाह रे दार्शनिकता ! विज्ञान एक (?) है यह बौद्धमत है, फिर बौद्धमतमें वह एक मात्र विज्ञान भी नित्य नहीं है। आपने किस बौद्ध ग्रन्थ से ऐसा अपूर्व बौद्ध सिद्धान्त का आविष्कार किया, उसका नाम भी लिखने की कृपा करें। वाहवा पण्डिताई, क्षणिक विज्ञानवाद में भी एक ही विज्ञान! विचारशील सज्जन श्रीस्वामीजी अपूर्व दार्शनिकता को समझें—यही प्रार्थना है।

बौद्धों के ग्रन्थों को तो छोड़ दीजिये, श्रीशंकराचार्य भगवान के ग्रन्थ में भी योगाचार के मत के विवरण में विज्ञान को क्षणिक कहा है—

क्षणिका बुद्धिरेवातस्त्रिधा भ्रान्तैर्विकल्पिता ।
स्वयंप्रकाशतत्त्वज्ञैर्मुमुक्षुभिरुपास्यते ॥

[सर्वसिद्धान्तसंग्रह—योगाचारमत—६]

शांकरमत और विज्ञानवादी बौद्धमत में तुलनात्मक समालोचना से ये भेद सिद्ध होते हैं—

बौद्ध विज्ञान को क्षणिक तथा अनेक मानते हैं।

श्रीशंकराचार्य्य विज्ञान (ब्रह्म) को एक व्यापक तथा नित्य मानते हैं। बौद्धमत में आलयविज्ञान सन्तान (आत्मा) अनन्त है, उनमें एकही सन्तान में अनन्तकोटि सन्तानी विज्ञान होते हैं। श्रीशंकराचार्य्य के मत में एक मात्र नित्य अखण्डविज्ञानरूपी ब्रह्म विराजमान माने जाते हैं। आत्मा का भेद इस मत में वास्तविक नहीं है। बौद्धमत तथा शांकरमत दोनों मतों में निखिल प्रपञ्च विज्ञान में कल्पित होने पर भी श्रीशंकराचार्य के मत में एकही नित्य विज्ञान सारी कल्पना का अधिष्ठान है,—एकही नित्य ज्ञानरूपी ब्रह्म में समग्र जगत् कल्पित है, बौद्धविज्ञानवादियों के मत में अनन्तकोटि विज्ञान का प्रत्येक विज्ञान व्यक्ति प्रपञ्च कल्पना का अधिष्ठान है—जिनको प्रपञ्च की प्रतीति होती है, उनके आलय विज्ञान सन्तानके अन्तर्गत प्रत्येक विज्ञान में प्रपञ्च कल्पित मानना पड़ता है, बौद्धमत में प्रत्येक विज्ञान सन्तान अलग अलग है, और सन्तानी से अतिरिक्त सन्तान नहीं है। इस प्रकार अद्वैत मत से विज्ञानवादी बौद्ध मत अत्यन्त भिन्न सिद्ध होता है। श्री स्वामीजी की दार्शनिक अज्ञता जिस प्रकार अपार है, उसी प्रकार दार्शनिक सूक्ष्म विचार दृष्टि का भी अत्यन्त अभाव है। इसलिये विषय को बिलकुल स्पर्श न कर श्री स्वामी जी अद्वैत मत को विज्ञानवादी बौद्धों का मत कहने में तनिक भी संकुचित न हुए, यह खेद की बात है।

श्री स्वामीजी को लौकिक वाक्यों के तात्पर्य का अवधारण करने में भी सामर्थ्य नहीं है। हमने बौद्ध मत तथा शाङ्करमत में भेद दिखाया [अद्वैतमतविमर्शखण्डन २-३ पृ०] स्वामीजी ने उसका

अभिप्राय न समझ कर 'स्वव्याहति' दोष का उद्भावन किया। जब आप हम जैसे लौकिक पुरुषों के वाक्य के भी तात्पर्य का अवधारण नहीं कर सकते तो अतिगम्भीर शाङ्करभाष्य, भामती, अद्वैतसिद्धि, लघुचन्द्रिका प्रभृति ग्रन्थोंके तात्पर्य्यावधारण की दुराशा आपसे करना बिल्कुल व्यर्थ ही है। श्री स्वामी जी को अद्वैत सिद्धान्तरहस्य समझाने के लिये लिखना पड़ता है—

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नाऽपि तदुत्तरम्॥

[पञ्चदशी २। ३६]

आप द्वैतवादियों के प्रश्नों के उत्तर देने के लिये हमें आपके मार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है। अद्वैतवादियों के मत में भेद पदार्थ ही सिद्ध नहीं होता है—यह आपको अवश्य ज्ञात होता—यदि आप कृपाकर खण्डनखण्डखाद्य, अद्वैतसिद्धि प्रभृति ग्रन्थों में परिश्रम करते।

श्री स्वामी जो ने श्री शंकराचार्य्य के 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह' से

जीवन्मुक्तिपदं हित्वा स्वदेहे कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तित्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥
ततस्तत्संबभूवासौ यद्गिरामप्यगोचरम्।
यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत्॥
विज्ञानं विज्ञानविदां .... तत्तत्वं तदसौ स्थितः।

इन वाक्यों का उद्धरण किया और इस पर टिप्पणी करते करते हुए कहा—"इससे स्पष्ट होगया कि शून्य और ब्रह्म का स्वरूप एक ही है।" "इन वाक्यों से बौद्ध विज्ञान तथा अद्वैतब्रह्म में भेद नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है।"

श्रीस्वामीजी की दार्शनिकता जैसी अपूर्व है, आप की सत्यनिष्ठा उससे भी बढ़ी चढ़ी है। जिस वाक्य का उद्धरण आपने

किया है, वह सम्पूर्ण वाक्य नीचे उद्धृत किया जाता है। श्री-स्वामीजी लोगों में भ्रम फैलाने के लिये इस वाक्य का कुछ अंश छोड़ दिये हैं—

जीवन्मुक्तिपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तित्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥
ततस्तत्संबभूवासौ यद्गिरामप्यगोचरम्।
यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत् ॥
विज्ञानं विज्ञानविदां मलानाञ्च मलात्मकम्।
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम् ॥
शिवः शैवागमस्थानां कालः कालैकवादिनाम्।
यत्सर्वशास्त्रसिद्धान्तं यत्सर्वहृदयानुगम्।
यत्सर्वं सर्वगं वस्तु तत्तत्त्वं तदसौ स्थितः ॥

[९७९—९८२)

श्रीशङ्कराचार्य्य के ग्रन्थों की समालोचना करते हुए हम इस वाक्य का श्रीशङ्कराचार्य्य-सम्मत अर्थ पाठकों के सम्मुख रखते हैं-

श्रीशङ्कराचार्य्य ने शून्यवादी के मतको सर्व प्रमाणों से विरुद्ध कहा है—

"शून्यवादिपक्षस्तु, सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्धः" (शाङ्करभाष्य २।२।३१)।

बौद्ध सिद्धान्तों को परस्पर विरुद्ध होने से सर्वथा अनादरणीय कहा है—

"अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु × × × सर्वथाऽनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैः।" (शाङ्करभाष्य २।२।३१)

उन्ही श्रीशङ्कराचार्य्य के लिये विज्ञानवादी बौद्धों के विज्ञान

तथा शून्यवादी बौद्धों के शून्य को ब्रह्म मानना, कहां तक सम्भव है, यह बुद्धिमानों को विचार करना चाहिये।

श्रीस्वामीजी के उद्धृत वाक्यसे यदि ब्रह्म शून्य तथा विज्ञान स्वरूप सिद्ध होता है तो मल, पुरुष, ईश्वर, शिव तथा काल स्वरूप भी सिद्ध होता है। शून्यवादियों का शून्य तथा विज्ञानवादियों का विज्ञान मल, पुरुष, ईश्वर, शिव तथा कालस्वरूप न होने से शांकर अद्वैतसिद्धान्त बौद्ध मत से भिन्न है। शून्यवादी शून्य को तथा विज्ञानवादी विज्ञान को मल, पुरुष, ईश्वर, शिव तथा काल-स्वरूप मानते हैं, जब तक यह प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जाय, तब तक शांकर मत को शून्यवाद तथा बौद्ध विज्ञानवाद के साथ अभिन्न कहना भयङ्कर अज्ञता है।

इस वाक्य का वास्तव में वह अर्थ नहीं है, जो आप श्रीशंकराचार्य्य के ग्रन्थ गुरुमुख से अध्ययन न करने से अपने मन से समझते हैं। आप यदि जिज्ञासाधिकरण [ब्रह्मसूत्र १।१।१] के भाष्य पर ध्यान देते तो यह भ्रम आप को न होता—

देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे। मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्त्ता भोक्तेत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्त्तेत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्। आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः।

इस उद्धृत भाष्यांश से स्पष्ट ज्ञात होता है, एक ही ब्रह्म वस्तु भिन्न भिन्न वादियों ने भिन्न २ प्रकार से समझी है, परन्तु सभी वादियोंकी समझ इस विषयमें ठीक नहीं हो सकती है। यही विषय माण्डूक्यकारिका (२।१६-२९) में स्पष्ट है। इन वादियों की विप्रतिपत्तियोंके खण्डन के लिये श्रीव्यासदेव ब्रह्मसूत्रों का प्रणयन किये हैं, यह श्रीशंकराचार्य्य का कथन है। क्षणिक विज्ञानवाद तथा शून्यवाद अद्वैत ब्रह्मवाद में पूर्व पक्ष है, सिद्धान्त नहीं है, यह पूर्व प्रदर्शित भाष्य से स्पष्ट प्रतीत होता है। अब सर्व वेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह

के उद्धृत वाक्य का अर्थ सरल होगया, भिन्न भिन्न वादियों की दृष्टि में जो ब्रह्म वस्तु भिन्न भिन्न रूपसे प्रतिभात है, सर्व शास्त्र सिद्धान्तभूत सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी सर्वस्वरूप उस ब्रह्म वस्तुमें देहनाश के साथही साथ वह ज्ञानी विलीन हो जाता है, यही उक्त वाक्य का सहज सरल यथार्थ अर्थ है। अद्वैत ब्रह्म सर्वशास्त्र-सिद्धान्त है, यह श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने 'प्रस्थानभेद'में सिद्ध किया है। बौद्ध सम्मत क्षणिक विज्ञान तथा शून्य अद्वैतवादियों के सिद्धान्तानुसार शशशृङ्गवत अलीक पदार्थ हैं। उस विज्ञान तथा शून्य को अद्वैतवादी का ब्रह्म समझना, बिलकुल, गाढ़ी अज्ञता है। आपने लिखा है [अद्वैतमत विमर्श २१ पृ०] विज्ञानवादी बौद्ध के मत को खण्डन कर श्रीशंकराचार्य्य ने 'अद्वैतमत प्रमाणों से विरुद्ध है' यही प्रकारान्तर से सिद्ध किया है। आपसे प्रार्थना है, शीघ्रता न कीजिये, पहले बौद्ध मत तथा शांकरमत का अध्ययन और मनन उत्तम रूप से कीजिये, अद्वैतसिद्धि प्रथम परिच्छेद में बौद्ध मत खण्डन का अभिप्राय स्पष्ट है।

शून्यवाद से अद्वैतवादका भेद।

हम पुनः पुनः कहते हैं,श्रीस्वामीजी बौद्ध ग्रन्थों से-बौद्ध मतों से परिचित नहीं हैं ऐसा होने पर भी वे अपनी अज्ञता दूसरों के शिर पर मढ़ना चाहते हैं:—दुसरों को अज्ञ बनाना चाहते हैं। श्रीशंकराचार्य्य से प्राचीन किसी बौद्ध ग्रन्थमें शून्यको ज्ञानस्वरूप माना है,यह सिद्ध करना श्रीस्वामीजी के लिये अत्यन्त असम्भव है। शून्यवाद के प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थ 'माध्यमिकावृत्ति' में विज्ञान को कल्पित कहा है। इस विषय के प्रमाणरूप से 'सर्वनिकायशास्त्र-सूत्र' का वाक्य उद्धृत किया है—

मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना।

(आदित्यबन्धुना = बुद्धेन)

श्री शंकराचार्य्य के ' सर्वसिद्धान्तसंग्रह ' में भी कहा है—माध्यमिक बुद्धि की सत्ता भी नहीं मानते हैं—

नास्ति बुद्धिरपीत्याह वादी माध्यमिकः किल।

(सर्वसिद्धान्तसंग्रह—माध्यमिकमत—६)

शांकरभाष्य (२।२।३१) में शून्यवादको सर्वप्रमाण विरुद्ध कहकर उसके खण्डन में उपेक्षा की, यदि शून्यमत श्रीशंकराचार्य्य का सम्मत होता तो उसको सर्व-प्रमाण विरुद्ध कहने का क्या अवसर था? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है—शून्यवाद श्री शंकराचार्य्य के सम्मत नहीं हैं।

यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में शून्य को ज्ञानरूप नहीं माना है, तथापि श्री शंकराचार्य्य के परवर्ती कुछ ग्रन्थों में शून्य को ज्ञानरूप तथा कहीं आनन्द रूप भी कहा है। यह बौद्ध विध्वंसी भगवान श्री शंकराचार्य के प्रभाव का फल है। उन्हीं के प्रभाव में आकर बौद्ध भी कुछ अंश में उनके सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिये वाध्य हुए।

केवलां संविदं स्वच्छां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः।

जैन ग्रन्थ विवेक विलास की इस कारिका में शून्य को ज्ञानरूप कहा है। जैन श्रीराजशेखरसूरिप्रणीत 'षड्दर्शनसमुच्चय' में भी शून्य को ज्ञानस्वरूप लिखा है—

मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियः स्वच्छां परां संविदम्।४५

अद्वैतवादी अद्वैत सिद्धिकार की उद्धृत पंक्ति से शून्यवादी का शून्य ज्ञान तथा आनन्दरूप प्रतीत होता है—

शून्यवादिभिरपि सत्त्वरहितज्ञानानन्दात्मकत्वस्य ब्रह्मणोऽन्यत्राङ्गीकारात्।

इन नवीन ग्रन्थों में शून्य को ज्ञान तथा आनन्द रूप कहने पर भी शून्य मत तथा अद्वैतमत का ऐक्य नहीं सिद्ध हो सकता है। शून्य यदि ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है, तोभी वह सत् नहीं है। शून्य का अद्वैतसिद्धि की ऊपर उद्धृत पंक्ति में **सत्त्वरहित** ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप कहा गया है। अद्वैतवादी का ब्रह्म सत् है, शून्य सत् नहीं है। शून्यवादी शून्य में स्वरूपसत्ता अथवा अतिरिक्त सत्ता दोनों नहीं

मानते हैं। अत एव—अद्वैतसिद्धि—प्रथमपरिच्छेद—द्वितीय मिथ्यात्वनिरुक्ति में कहा है—शून्यवादी सदधिष्ठानकभ्रम नहीं मानते हैं। उनके मत में भ्रम का अधिष्ठान शून्य है, वह सत् नहीं है। अद्वैतवादी ब्रह्म को सत् मानते हैं। उनके मत में समस्त कल्पनाका अधिष्ठान सत्स्वरूप ब्रह्म है, इससे वे सदधिष्ठानक भ्रम को मानते हैं। शून्यवादी के मत में शून्य सत् नहीं है, अद्वैतसिद्धान्त में ब्रह्म सत् है, अद्वैतसिद्धिकार ने पुनः पुनः इसका निरूपण किया है। श्रीस्वामीजी यदि व्यर्थ कलह छोड़ कर ध्यान से गौड़ ब्रह्मानन्दी-सहित अद्वैत-सिद्धि का परिशीलन करें तो उनके समस्त भ्रम दूर हो जायेंगे। सिद्धान्तों में अंश विशेष समान होने पर भी एक मत अन्य मत नहीं होता है—खण्डन-विद्यासागरी की यह बात आपको ज्ञात नहीं है।

श्रीगौड़पादाचार्य्य की कारिका तथा उसके शांकरभाष्य का उपक्रम उपसंहार न समझकर श्रीस्वामीजी ने हमारी अज्ञता के लिये खेद प्रगट किया। आप शांकरभाष्य के 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' शब्द के ऐक्य से भ्रम के गहरे कूप में पड़े हैं, अर्थ का विचार नहीं किया। यदि श्रीस्वामीजी श्रीशंकराचार्य्य के ग्रन्थों का मनन उत्तम रूप से करते तो भ्रम के चक्कर में न आते, और उनके भ्रम को हटाने के लिये व्यर्थ परिश्रम नहीं उठाना पड़ता। आशा है, श्रीस्वामीजी इस लेख को पढ़कर अपनी अज्ञता के लिये अवश्य पश्चात्ताप करेंगे। श्रीशंकराचार्य्य ने ब्रह्म को सत् मानते हुए शून्य को 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' कहा है—

न सन्नासन्न सदसन्न चोभाभ्यां विलक्षणम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥७॥

* * * * *

चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यं तत्त्वमिति स्थितम् ॥१०॥

[सर्वसिद्धान्तसंग्रह—माध्यमिकमत]

ब्रह्मसूत्र भाष्य (२।२।३१) में आचार्य्य श्रीशंकर भगवान् ने स्वयं शून्यवाद को सर्व प्रमाणों से विरुद्ध बतलाया है। वे ही श्री शंकराचार्य्य माण्डूक्यकारिका के भाष्य में शून्यवाद को स्वीकार किये हैं—यह कल्पना सहज बुद्धि से नहीं हो सकती। इस लिये

हम श्रीस्वामीजी से सविनय प्रार्थना करते हैं—आप फिर से उक्त कारिका तथा भाष्य का विचार करें, साथ साथ आनन्दगिरि की टीका पर भी ध्यान से विचार करें। यह भी ध्यान में रहे, माण्डूक्य का० (४ । ८४) के भाष्य के 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' शब्द का जो अर्थ है, मा० का० (४ । १००) के भाष्य के 'चतुष्कोटिवर्जित' शब्द का वही अर्थ है।

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥ [४ । ८३]

इन चार पक्षों में 'अस्ति' यह प्रथम पक्ष वैशेषिकादि का है, वे शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा मानते हैं। देहादि से अतिरिक्त होने पर भी बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा नहीं है, क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है, यह द्वितीय पक्ष विज्ञानवादी बौद्ध का है। 'अस्ति नास्ति' यह तृतीय पक्ष स्याद्वादी जैनियों का है, वे समस्त पदार्थों में 'सप्तभङ्गीन्याय' का प्रयोग करते हैं, इस लिये उन के मत में आत्मा 'अस्ति नास्ति' उभयरूप है। 'नास्ति नास्ति' यह चौथा पक्ष शून्यवादी का है, शून्य की आत्यन्तिकता सूचित करने के लिये दो बार 'नास्ति नास्ति' कहा गया है। शांकर भाष्य तथा आनन्द गिरि की टीका के अनुसार इस कारिका का यही अभिप्राय है। आत्मा इन चार कोटियों से रहित है—

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदाऽऽवृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥ [४। ८४]

यहां आनन्द गिरि ने भाष्य सहित कारिका का तात्पर्य इस प्रकार वर्णन किया है—

"आत्मा हि वस्तुतोऽस्तीत्यादिकल्पना रहितो येनोपनिषत्प्रवणेन प्रतिपन्नः स सर्वज्ञो ज्ञातव्यान्तरमपश्यन् परमार्थपण्डितो निराकाङ्क्षो भवतीत्यर्थः।"

पूर्व कारिका के भाष्य से मिलाकर इस कारिका का तात्पर्य, भाष्य तथा आनन्दगिरि की भाष्यव्याख्या के अनुसार यह सिद्ध होता है, आत्मा के विषय में भिन्न भिन्न चार प्रधान वादी भिन्न २

विचार करते हैं वे विचार उनके अपनी अपनी कल्पना मात्र है, आत्मा इन चारों कल्पनाओंसे अतीत है। जिसने उपनिषत् के परिशीलन से इस आत्मा को ठीक ठीक (इन कल्पनाओं से रहित) जाना, वही वास्तविक पण्डित है।

हम इस विषय में अधिक लिखना अनावश्यक समझते हैं। माण्डूक्यकारिका, भाष्य तथा आनन्द गिरि की टीका सहित सुलभ है, जो समझदार हैं, वे मिलाकर देखें—अज्ञता किसकी है, श्रीशङ्कर विद्वेषी का अथवा श्रीशङ्कर के भक्त का? खेद की बात है, काशी जैसे पण्डितों के स्थान में भी श्रीस्वामीजी दिन में आंखों में धूल झोंकना चाहते हैं। जिस कारिका में शून्यवादी के सिद्धान्त की अवहेलना की गयी, आप उसीमें शून्यवादीके मत को माना है-ऐसा कहते हैं; और उसी कारिका के आधार पर श्रीगौड़पादाचार्य्य तथा श्रीशङ्कराचार्य्य को शून्यवादी बौद्ध सिद्ध करने का दावा करते हैं। किमाश्चर्य्यमतः परम्! इन दो कारिकाओं के साथ पूर्वोक्त 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह' के वाक्य को मिलाकर पढ़नेसे उसके अर्थ में भी सन्देह नहीं रहता है। आपने आचार्य भगवान् श्रीशङ्करको शून्यवादी बनानेके लिये एक पद्यांश लिखा है:-

न सच्चाहं न चासच्च नोभयं केवलः शिवः।

इससे अद्वैतियों का ब्रह्म 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' किस प्रकार से सिद्ध हुआ—यह केवल श्री स्वामीजी ही समझ सकते हैं। इस से सत्ता, असत्ता तथा सदसद् उभयरूपता—इन तीन धर्मों का आत्मा (ब्रह्म) में निषेध प्रतीत होता है। ब्रह्म-सत्ता ब्रह्म स्वरूप है, (अद्वैतमतविमर्शखण्डन ४ पृ०) इसलिये सत्तारूप अतिरिक्त धर्म्म का ब्रह्म में निषेध किया गया है। ब्रह्म में सत्तादि धर्म्म मानने पर द्वैत की आपत्ति होगी—अद्वैतवादियों का अपसिद्धान्त होगा। स्वरूप सत्तासे अद्वैतियोंका ब्रह्म सत् है, शून्यसे विलक्षण है, ब्रह्म के ऊपर सत्ता रूप अतिरिक्त धर्म्म मानने पर अनवस्था होगी [खण्डन खण्ड खाद्य-प्रथम परिच्छेद]। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २।१) यह श्रुति ब्रह्म की सत्ता में प्रमाण होती हुई भी 'नेह नानाऽस्ति

किञ्चन' 'स एष नेति नेत्यात्मा' इन श्रुतियों की एकवाक्यता से ब्रह्म की स्वरूप सत्ता का ही बोधन करती है।

उपसंहार।

प्रभाकर के मत में भूतल में जो घटाभाव है, वह भूतलस्वरूप होने पर भी भूतल की असत्ता=शून्यता नहीं मानी जाती है। वहाँ भूतलरूप भाव पदार्थ अभावरूप से प्रतीत मात्र होता है। सत्स्वरूप ब्रह्म में जो प्रपञ्चाभाव है, वह ब्रह्मस्वरूप होने पर भी उससे ब्रह्मको शून्य क्यों माना जायगा—यह श्री स्वामीजी को छोड़ कर दूसरों की बुद्धि में आना असम्भवही है। ब्रह्मविद्याभरण जिस प्रकार आप समझे हैं, हमारा कथन भी उसी प्रकार समझते हैं। जो न समझें, उनको समझाना अशक्य है। आप के हृदय में परमपूज्य भगवान् श्रीशङ्कराचार्य पर घोर विद्वेष है, आपकी द्वेष-बुद्धि का प्रधान प्रमाण यह है,—श्रीशङ्कराचार्य्य प्रपञ्च के विषय में 'अनिर्वचनीय' अर्थ में 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग किये हैं, आप उसका अनुवाद जानबूझ कर 'झूठा' करते हैं। आचार्य श्रीशङ्कर ने तो जगत् के विषय में अलीक अर्थ में 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया तो आप उसका अनुवाद 'झूठा' क्यों करते हैं?

जो परलोक की पारमार्थिक सत्ता मानते हैं, आप उसी को 'आस्तिक' कहते हैं। [अद्वैतमतविमर्श १८ पृ०] आपके कथनानुसार 'वैभाषिक' बौद्ध भी 'आस्तिक' हैं। उनके ग्रन्थ 'अभिधर्म्मकोश' में परलोक माना है। जैन भी आस्तिक हैं, उनके 'सम्मतितर्क' ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में ही परलोक सिद्ध किया है। परन्तु वैदिक मार्ग के अनुसारी कोई भी ग्रन्थकार इनको 'आस्तिक' नहीं मानते हैं। 'नास्तिको वेदनिन्दकः' इस मनुवाक्य के अनुसार इनको नास्तिक ही समझते हैं। इसलिये आप की 'आस्तिक' शब्द की व्युत्पत्ति, मनुवचन माननेवाले आस्तिकों के सम्मत नहीं है। उन्होंने व्याकरण से मनुस्मृति को प्रबल माना है।

हमने भस्म तथा रुद्राक्ष धारण का जो वैदिक प्रमाण उपस्थित किया है, श्री स्वामीजी उसके खण्डन में असमर्थ हुए। इसलिये वे

भस्म रुद्राक्ष धारण के वैदिकत्व का खण्डन फिर नहीं करेंगे, यह आशा अद्वैतवादी कर सकते हैं।

ब्रह्मसूत्रों का तात्पर्य अद्वैत में ही है—यह 'व्यासतात्पर्यनिर्णय' (वाणी विलास प्रेस) ग्रन्थ में अच्छी तरह से सिद्ध किया है। श्रुति का अद्वैत में ही तात्पर्य है, अद्वैतसिद्धि तथा गौड़ ब्रह्मानन्दी आदि-ग्रन्थों में इसका भी प्रचुर प्रतिपादन है, हमने भी 'अद्वैतमतविमर्श खण्डन' प्रथम प्रकाश में इसका निरूपण किया है। गीताका तात्पर्य अद्वैत में है, यह भी आप को शाङ्कर भाष्य से प्रतीत होगा। आप यदि श्रीमधुसूदनसरस्वतीजी की 'गीतागूढ़ार्थदीपिका' ध्यान से पढ़ते तो, आप को गीता का तात्पर्य अद्वैत में है यह निश्चय हो जाता। गीता स्वयं कहती है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

इसके बाद भी यदि किसी के मन में हो कि, गीता का तात्पर्य अद्वैत में नहीं है, तो उनके लिये गुरु सेवा ही परम कर्त्तव्य होगी। अभीतक गीता का सच्चा तात्पर्य आपको ज्ञात न होने से आप उस का विपरीत अर्थ समझते हैं। श्रुति, व्यास सूत्र तथा गीता में, द्वैत पक्ष में ही ताना खींचा करना पड़ता है।

अतः पर आपकी वञ्चनापूर्ण व्यर्थ बातों का उत्तर देने में समय का अपव्यय नहीं किया जायगा। यदि आपको अद्वैतमतको समझना हो तो अद्वैतवाद के ग्रन्थों का परिशीलन करें। आपकी द्वेषबुद्धि से अद्वैतवाद की कुछभी हानि न होगी। अद्वैतमत आपके मतों से अर्वाचीन नहीं है। आपही जनता में व्यर्थ भ्रम फैलाकर विद्वानों की दृष्टि में अपनी घोर अज्ञता तथा मायाविता को प्रमाणित कर रहे हैं, अब ग्रन्थों के अंशों को उड़ाकर उद्धृत करते हुए जनता को धोखा देकर झूँठा विजय प्राप्त करना चाहते हैं। वञ्चना में पटुता न होने के कारण हमें इस विषय में उपेक्षा करनी होगी। शास्त्रों का विचार अब समाप्त होगया। श्री स्वामी जी वञ्चना के मार्गपर चलते हैं इसलिये भविष्य में हम उनकी वञ्चना का उत्तर नहीं देंगे।

आपसे हम फिरभी सविनय प्रार्थना करते हैं,—भारतभूमि इस समय अन्तः कलह के कारण नष्ट भ्रष्ट हो रही है,—एक ओर हिन्दू मुसलमान लड़ते हैं,—दूसरी ओर सुधारक तथा प्राचीन सिद्धान्त मानने वालों का कलह प्रारम्भ होगया। इस दुर्दिन में इस शान्तिमय शिवपुरी में स्मार्त्त वैष्णवों के एक नवीन कलह का उद्भावन करना कदापि उचित नहीं है। आप प्रेमपूर्वक अपनी श्रद्धा के अनुसार श्रीभगवान् का भजन पूजन करें, उसमें किसी अद्वैतवादी का विरोध नहीं है। अद्वैतवादी अच्छी तरह से जानते हैं—

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते॥

[माण्डूक्यकारिका ३। १७]

आप पहले अन्य सम्प्रदायों के वैष्णवों को अपने सिद्धान्तों को मनावें, जिस श्रीचैतन्य सम्प्रदायको अपना अङ्ग समझते हैं, उसको अपने सिद्धान्तों को स्वीकार करावें, उसके बाद अद्वैतियों से वाद विवाद करें।

आपने 'अद्वैतमतविमर्श' में परमपूज्य भगवान् श्रीशङ्कराचार्य्य के प्रति तीव्र आक्षेप किया, अद्वैत मत को बौद्ध मत तथा अवैदिक मत कहा, भस्मादि धारण को वेदनिन्दित बताया, हम अद्वैतमत के अनुयायियों को असुर बताया, इसलिये हमें इतना लिखना पड़ा।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।



श्रीविश्वेश्वरो विजयते।

घोषणा।

(द्वितीयावृत्ति)

१०००) मुद्रा-पारितोषिक।

श्रीमाध्वसंप्रदायाचार्य्य स्वामी श्री सत्यध्यान तीर्थजी महाराज ने 'अद्वैतमतविमर्श' नामक पुस्तक इस शिवपुरी में वितरण किया। इस पुस्तक के ११ वें पृष्ठ में भस्मादिधारण वेदनिन्दित है—ऐसा लिखा है, इस पुस्तक में परमपूज्य भगवान् श्रीशंकराचार्य्य पर तीव्र आक्षेप किया गया है और उनके अद्वैतमत को बौद्ध तथा अवैदिक मत कहा है। इस प्रकार से शान्तिमय शिवपुरी में अशान्ति का बीजारोपण कर दिया गया।

मैंने केवल अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिये 'अद्वैतमतविमर्श-खण्डन' नाम से इस पुस्तक का खण्डन प्रकाशित किया, जिसमें किसी मत पर आक्षेप न करते हुए श्रीस्वामीजी की बौद्ध तथा शांकर दोनों मतों में अज्ञता प्रमाणित की। इस खण्डन का उत्तर देने में असमर्थ श्रीस्वामीजी के पक्ष के कुछ पण्डितों के हस्ताक्षर से मुझ पर व्यक्तिगत मिथ्या आक्षेपसूचक एक विज्ञापन प्रकाशित किया गया है।

यदि श्रीस्वामीजी अथवा उनके पक्ष के कोई पण्डित शाङ्कर-मत को बौद्ध तथा अवैदिकमत सिद्ध कर सकें तो मैं उनको १०००) मुद्रा पारितोषिक दूंगा और स्वयं शङ्खचक्र धारण कर माध्वमत को स्वीकार करूंगा। श्रीस्वामीजी अथवा उनके पक्ष के कोई पण्डित मेरे पुस्तक का ठीक ठीक खण्डन लिखें—जिसको उभयपक्षसम्मत मध्यस्थ के सन्मुख रखकर निर्णय किया जायगा। यदि श्रीस्वामीजी इसमें असमर्थ हों तो देश की इस भयङ्कर दुर्दशा के समय में—जिस समय सारा देश ऐक्य में दृढ़बद्ध हो रहा है, उस समय में—साम्प्रदायिक कलह न फैलाकर काशी से प्रस्थान करने की कृपा करें—यही सविनय प्रार्थना है।

३०-१२-३२ हाराणचन्द्र भट्टाचार्य्य।

विशेष सूचना ।



'अद्वैतमतविमर्शखण्डन' प्रथम तथा द्वितीय प्रकाश प्रकाशित किया है । इससे अद्वैतमत का वैदिकत्व तथा बौद्ध मत से उसका भेद स्पष्ट होगया । इसीसे विचारशील सज्जनों की दृष्टि में सच्ची बात खुल जायगी । अब इस विषय में कुछ भी लिखना अनावश्यक है ।



अर्जुन प्रेस, कबीरचौरा, काशी में मुद्रित ।



श्रीमद्वैष्णववद्वैतसिद्धान्तप्रतिष्ठापनाचार्य-श्रीमन्मध्वाचार्यपीठा-
धिष्ठितानां श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यत्वाद्यनेकगुण-
गणालंकृतानांश्रीमदुत्तरादिमठाधीशानां श्रीमद्वैदिक-
सिद्धान्तप्रचारणबद्धपरिकराणां श्री श्री १०८ श्रीम-
त्सत्यध्यानतीर्थमुनींद्राणां मुखकमलनिस्सृ-
तवाक्तरङ्गिणीलहरीलेशरूपम्—

अद्वैतमतविमर्शमालायाः-

द्वितीयं पुष्पम् ।

——:०:——

संग्राहकः—

पण्डित नारायणाचार्यः ।



प्रकाशकः—

श्रीमन्मध्वसिद्धान्ताभिवृद्धिकारिणी सभा

काशी ।

बाबूनन्दनप्रसाद द्वारा सत्यनाम प्रेस, काशी में मुद्रित ।

श्रीसत्यमेव जयति नानृतम् ।

अवश्य ध्यान देकर पढ़िये

अवतरणिका पर विचार ।

श्रीहाराणचन्द्रभट्टाचार्यशास्त्रीजीने 'अद्वैतमतविमर्शखण्डन' नाम देकर अपने लिखे हुए पुस्तकका आरंभ करते हुए अवतरणिकामें लिखा है कि, 'अद्वैतमतविमर्श' ग्रन्थमें श्रीशंकराचार्य तथा उनके सिद्धांत पर तीव्र आक्षेप किया गया, इस प्रकार सांप्रदायिक विवाद असामयिक तथा अनुचित है। परन्तु शास्त्रीजीने 'अद्वैतमतविमर्श' का कुछ भी अभिप्राय न समझ कर ऐसा लिखा है, यह प्रतीत होता है। क्योंकि अद्वैतमतविमर्श ग्रन्थके प्रकाशनका अभिप्राय यह है कि— जैसे भगवान्ने असुर लोगोंके मोहनार्थ बुद्धरूप धारण कर बौद्धमतका उपदेश किया था उसी प्रकार शंकरावेशावतार श्रीशंकराचार्यने भी असुरोंके मोहनार्थ अवैदिक बौद्धमतको ही वैदिक अद्वैतमत नामसे प्रसिद्ध किया। उसमें 'न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं न मंत्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः। न मेजातिभेदो' (निर्वाणषट्क) न माता पिता वा, न देवा न लोकाः, न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवंति। न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः, न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा। न च त्वं न चाहं न चायं प्रपंचः, (दश श्लोकी) 'तस्माद्विद्याकार्यत्वात्सर्वकर्मणां तत्साधनानांच यज्ञोपवीतादीनां परमार्थदर्शननिष्ठेन त्यागः कर्त्तव्यः। (उपदेशसाहस्री)' इत्यादि वाक्योंसे पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, मंत्र नहीं है, जातिभेद नहीं है, माता नहीं पिता नहीं, देव नहीं, स्वर्गादिपरलोक नहीं, यह लोक नहीं, वेद नहीं, यज्ञ नहीं, गंगादि तीर्थ नहीं, ब्राह्मणादिवर्ण नहीं है, ब्रह्मचर्यादि आश्रम नहीं है, वर्णाश्रमोंके धर्म

नहीं है, शास्त्र नहीं है, शास्ता नहीं है, गुरु नहीं है, शिक्षा नहीं है, शिष्य नहीं है, तुम नहीं हो, हम नहीं हैं, सांख्यमत नहीं है, शैवमत नहीं है, पंचरात्र नहीं है, पाशुपत नहीं है, सौरमत नहीं है, गाणपत्य नहीं है, शाक्तमत नहीं है, मीमांसकादिमत नहीं है, बहुत क्या कहें, ये समस्त पूर्व न थे न अभी हैं न आगे होंगे। इस प्रकार तीनों कालोंमें भी न रहने वाला झूठा है जो कुछ दीखता है वह भ्रममात्र है, इसलिये सब धर्मोंका तथा उसके साधन यज्ञोपवीत आदिका त्याग करना चाहिये। ऐसा बताया है। फिर जिस प्रकार दैवीसंपत्तिमान् सज्जनोंको भयसे बचानेके लिये भगवान्ने वेदव्यासरूपसे ब्रह्मसूत्रका निर्माण करके बुद्धरूपसे स्वयं किये हुए बौद्धमतका खण्डन किया, उसी प्रकार वेदव्यासजीके किये हुए 'नाभाव उपलब्धेः' इत्यादि सूत्रोंके व्याख्यानके व्याजसे अपने कहे हुए ब्राह्मण आदिवर्ण ब्रह्मचर्यआदि श्रम इत्यादि जगत् मिथ्या (ज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं है) इत्यादि अद्वैतमतका खंडन करके सज्जनोंको भ्रमसे बचाया। ऐसी वस्तुस्थिति रहते हुए भी तामसिक अधिकारियोंको मोहित करनेके अभिप्रायसे लिखे हुए ऊपरके वाक्योंसे ब्राह्मणादिवर्ण ब्रह्मचर्यादि आश्रम, यज्ञादि क्रिया, देवता, वेद, गंगादितीर्थ, स्वर्गादि परलोक देवमंदिरस्थापन, देवतापूजा, पुण्यपाप, मन्त्र, जातिभेद, गुरुशिष्य, बंधमुक्ति, इत्यादि सनातनधर्मके मूलसिद्धान्तोंकी अवहेलना प्रतिभासित होती है और उन्हीं वाक्योंको लेकर आजकल सुधारकगण जनताको सनातनधर्मके विरुद्ध भड़काते हैं तथा श्रीशंकराचार्यके उन्हीं वाक्योंके आधारपर मूर्तिपूजाका खंडन वर्णाश्रमधर्मकी निर्मूलता इत्यादि अपने मतको सिद्ध करना चाहते हैं। इसी प्रकार इन्हीं ऊपरके वाक्योंका आधार लेकर इस समयके नास्तिकगण श्रीशंकराचार्यजीके मत पर आक्षेप करते हैं कि, अद्वैतवादी हमलोगोंसे भी कट्टर नास्तिक हैं, क्योंकि नास्तिक लोग तो स्वर्ग नरक पुण्य पाप और देवगण आदि अप्रत्यक्ष वस्तुमात्रको मिथ्या

मानते हुए भी प्रत्यक्ष प्रमाण मानकर प्रत्यक्षसिद्ध जो जगत् है, उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। परन्तु अद्वैतवादी लोग स्वर्ग नरक, पुण्य-पाप आदि अप्रत्यक्ष वस्तुको तथा प्रत्यक्ष-सिद्ध जगत्को भी मिथ्या कहते हैं। ईश्वरके सम्बन्धमें भी अद्वैत-वादी अनीश्वरवादियोंके समान ईश्वरकी सच्ची सत्ता भी नहीं मानते हैं, श्रुतियोंका भी प्रामाण्य मिथ्या है, ऐसा कहते हैं। नास्तिक ईश्वर और वेदको एकदम नहीं मानते और अद्वैतवादी लोग उसमें थोड़े व्याजके साथ नमकमर्च लगाकर नहीं मानते, जैसा कि, किसीको मिथ्या पण्डित कहना या अपण्डित कहना तात्पर्य दोनोंका एक ही है, इसी प्रकार वेदोंको अप्रमाण कहना या मिथ्या प्रमाण कह इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है। ईश्वरके विषयमें भी ईश्वरको काल्प-निक सत्य कहना अथवा ईश्वरको नहीं मानना ये दोनों बराबर हैं। विशेषता यही है कि, हमलोग तो जिनको मानते नहीं हैं उनको करते भी नहीं हैं परन्तु अद्वैतवादी लोग स्वर्ग नरक पुण्य-पाप वर्णाश्रमाचार और देवता आदिको मिथ्या मानकर भी लोकवंचना के लिये उनका अनुष्ठान करते हैं, ऐसा आक्षेप नास्तिक लोग करते हैं और नास्तिकगण श्रीशंकराचर्यजीको महान् नास्तिक मानकर अपने संघका गुरु या अग्रगण्य बनाना चाहते हैं। श्रीशंकराचार्यका यथार्थ अभिप्राय न समझकर 'अद्वैतमतविमर्श'के खंडनका साहस करनेवाले श्रीशास्त्रीजी श्रीशंकराचार्य पर मिथ्यात्ववाद (विवर्त-वाद) का कलंक लगाते हुये उनको नास्तिकोंके गढ़ेमें ढकेलनेका प्रयत्न कर रहे हैं और उनके साथ अपनेको भी उसी ओर लिये जारहे हैं। किंतु यदि कोई शंकराचार्यके ऊपर लगे हुए मायावाद (जगन्मिथ्यात्ववाद) का कलंक धोकर उनको वैदिक सनातन-धर्मियोंके धर्माचार्यपदपर प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न करे तो दोनोंमें किसका पुरुषार्थ प्रशंसनीय होगा, यह हर एक साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। अब विचार करना यह है कि, श्रीशंकराचार्य

तथा वेदोंको आक्षेपसे बचाना या नहीं? और उनको बचाकर वैदिक सनातनधर्मकी रक्षा करना या नहीं? इसलिये 'अद्वैतमतविमर्श'के रचयिता महानुभावने उस ग्रन्थमें यह सिद्ध किया है कि, श्रीशंकराचार्यने परमार्थतः वर्णाश्रमधर्म, परलोक, देवता, संध्यापूजन, पुण्य-पाप, वेद, यज्ञ, गंगादितीर्थ आदि जगत्को सत्य (अकल्पित) माना है। केवल तामसिक अधिकारियोंको मोहित करनेके लिये मायावाद (विवर्तवाद) का झलक दिखलाया है। अब यह कहना अनुचित न होगा कि, 'अद्वैतमतविमर्श' ग्रंथके प्रकानका अभिप्राय श्रीशंकराचार्यका यथार्थ अभिप्राय बतलाकर आदर बढ़ाना है उनपर आक्षेप करना नहीं है।

यदि शंकराचार्यजीका अभिप्राय यह हो कि, वर्णाश्रमधर्म इत्यादि सब मिथ्या है तो सनातनधर्मियोंकी श्रद्धा श्रीशंकराचार्यमें नहीं रह जायगी, इसलिये इस ग्रंथका प्रकाशन तथा साम्प्रदायिक विवाद सामयिक, अत्यावश्यक और सर्वथा उचित है।

अन्तमें शास्त्रीजीसे वक्तव्य यह है कि, आपको उचित और कर्तव्य है कि, आप पहिले 'अद्वैतमतविमर्श' पुस्तक तथा उसमें उल्लिखित अद्वैतग्रन्थके वचनोंको आद्यन्त मनोयोग लगाकर भलीभाँति पढ़ें और उसका पूर्ण विचार करके समुचित उत्तर लिखें तब श्रीस्वामीजीकी इच्छा पूर्ण होगी, अभी तो आपने बिना समझे बुझे कुछ लिख मारा है, ग्रन्थका तो स्पर्श तक नहीं किया है, यह बात 'अद्वैतमतविमर्श' और आपके लिखे हुए ग्रन्थके देखनेसे प्रत्येक बुद्धिमान्को विदित हो जायगी।

हां, आपने लेखबद्ध शास्त्रार्थ आरम्भ किया है, यह संतोषकी बात है।

भारतधर्म प्रेस, काशी।

श्रीसर्वेश्वरो विजयते ।

अद्वैतमत तथा बौद्धमत का भेदखण्डन ।

बौद्धों में मुख्यतः दो भेद हैं। एक शून्यवादी बौद्ध तथा दूसरे विज्ञानवादी बौद्ध । उनमें शून्यबादी बौद्धों तथा अद्वैतवादियों की समता (एकता) दिखाते हैं।

यह सर्वसंमत ही है कि स्वीकृत तत्त्वों के भेद से ही सिद्धान्तों में भेद होता है। अद्वैत तथा शून्यवादी बौद्ध, इन दोनों मतों में प्रमाण, प्रमेय, फल, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक, देवता, वेद, गङ्गा आदि तीर्थ, ये सब कल्पित = मिथ्या = तीनों कालों में न रहनेवाले (न पूर्वकाल में थे, न अभी हैं, न आने होंगे) ऐसे माने गये हैं। इससे अध्यस्त (आरोपित) विषय में तो किसी प्रकार का भी भेद दोनों मतों में नहीं है। अब रही अधिष्ठान की बात, सो उसमें भी विचार करने से भेद नहीं हैं, यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। क्योंकि बौद्धों का शून्य तथा अद्वैतियों का ब्रह्म, निर्विशेष तथा अद्वय होने के कारण दोनों एक ही हैं, उनमें भेद नहीं है।

भट्टाचार्यजीने अपनी खंडन-पुस्तक में लिखा है कि—

"शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध के मत से भी शङ्करमत भिन्न है। शून्यवादी शून्य को सत्, असत्, सदसत्, सदसदनुभयरूप—इस चार कोटि से अलग मानते हैं—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्म्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका जगुः ॥

[शिवार्कमणिदीपिका २।२।३०]

"माध्यमिकास्तावदुत्तमप्रज्ञा इत्थमचीकथन् × × ×
अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मकचतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव ।"

[सर्वदर्शनसंग्रह बौद्धदर्शन]

अद्वैत मत में ब्रह्म सत्स्वरूप है, तथा ज्ञानस्वरूप है। शून्यवादी शून्य को सत्स्वरूप नहीं मानते हैं, यदि सत्स्वरूप शून्य होता तो सत्कोटि में आ जाता, उक्त चतुष्कोटिविनिर्मुक्त नहीं हो सकता। शून्य को सत् मानने पर शून्यवादी के अपसिद्धान्त की आपत्ति होती है। इसलिये अद्वैतवादी का ज्ञानस्वरूप ब्रह्म माध्यमिक का शून्य नहीं है। शून्यवादी शून्य को ज्ञानस्वरूप मानते हैं, ऐसा श्रीस्वामीजी नहीं कह सकते। ऐसा कहने से उनके कथनानुसार (अद्वैतमतविमर्श १७ पृ., १८ पृ.) विज्ञानवादी तथा शून्यवादी का मत एक हो जायगा। शून्यवादी लोग विज्ञान को पारमार्थिक तत्त्व नहीं समझते हैं—

नेष्टं तदपि धीराणां विज्ञानं पारमार्थिकम् ।
एकानेकस्वभावेन विरोधाद्वियदब्जवत् ॥

[शिवार्कमणिदीपिका २।२।३०]

"अतो न विज्ञानमेव तत्त्वमिति व्यवस्थापयितुं शक्यम् ।"

[अवैदिकदर्शनसंग्रह (वाणीविलासप्रेस) १७पृ.]

अद्वैतवादी नित्यविज्ञान को ही पारमार्थिक तत्त्व मानते हैं। इसलिये अद्वैतमत शून्यमत से अलग है।"

भट्टाचार्यजीके उपर्युक्त वाक्यों को देखकर खेद के साथ कहना पड़ता है कि श्रीमान् भट्टाचार्यजी गौडपादाचार्य तथा श्रीशंकराचार्यजीके ग्रंथों से परिचित नहीं हैं, क्योंकि गौडपादाचार्यजीने—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥ ८३ ॥
कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥ ८४ ॥

इन कारिकाओं में ब्रह्म चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है, ऐसा लिखा है । तथा श्रीशंकराचार्यजी ने—

"यः स भगवान् आभिः अस्ति नास्तीत्यादिकोटिभिः चतसृभिरप्यस्पृष्टो अस्त्यादिविकल्पनावर्जितः इत्येतत् येन मुनिना दृष्टो ज्ञातः वेदांतेषु औपनिषदः पुरुषः स सर्वदृक् सर्वज्ञः परमार्थ पंडित इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

दुर्दर्शमतिगंभीरम् ॥ १०० ॥

'दुर्दर्शं' अस्ति नास्तीति चतुष्कोटिवर्जितत्वात् दुर्विज्ञेयमित्यर्थः ।

(गौ. शां. भा.) ॥१००॥

न सच्चाहं न चासच्च नोभयं केवलः शिवः ॥

(पद्यप्रबंधः)

इत्यादि अनेक वाक्यों से ब्रह्म को भी शून्य के समान सत् नहीं असत् नहीं सदसत् नहीं इत्यादि चतुष्कोटिविनिर्मुक्त कहा है और जो लोग ब्रह्म को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मानते हैं, वे ही परमार्थ पंडित (सच्चे विद्वान्) हैं । जो नहीं मानते, वे बालिश (अविवेकी = मूर्ख) हैं । ऐसा भी उक्त ग्रन्थ में लिखा है । तो अब भट्टाचार्यजी ही बतलावें कि वे ब्रह्म को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मानते हैं या नहीं ? यदि ब्रह्म को सत् मानकर चतुष्कोटिविनिर्मुक्त नहीं मानते तो बेचारे शून्यवादियों पर लदनेवाला अपसिद्धांत का

बोझा भट्टाचार्यजी के ही माथे पड़ता है। यदि वह बोझा बाजू पटक कर अपने पूर्वाचार्यों का सम्मान रखने जाते हैं तो शून्य-वादियों की पंगत में बैठना पड़ता है। इसलिये 'अद्वैत मत में ब्रह्म सद्रूप है और बौद्धों के मत से शून्य सद्रूप नहीं है' इत्यादि भट्टाचार्यजी का कथन उचित नहीं मालूम होता। उपर्युक्त कथन से यह भी सिद्ध होजाता है कि "सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म" यह श्रुति अद्वैतियों के चतुष्कोटिविनिर्मुक्त ब्रह्म का वर्णन नहीं करती।

श्रीमान् भट्टाचार्यजी ने अद्वैतियों की ओर से वकालत की है कि ब्रह्म और शून्य एक नहीं है; परंतु अद्वैत सिद्धांत के प्रवर्तक श्रीशंकराचार्य ने अपने 'सर्ववेदान्तसिद्धांतसंग्रह' ग्रंथ में शून्य और ब्रह्म को एक रूप ही माना है। जैसा कि—

जीवन्मुक्तिपदं हित्वा स्वदेहे कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तित्वं पवनोऽस्पंदतामिव ॥
ततस्तत्संबभूवासौ यद्गिरामप्यगोचरम् ।
यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत् ॥
विज्ञानं विज्ञानविदां·········तत्तत्त्वं तदसौ स्थितः ॥

भावार्थ—जब ज्ञानी का शरीर कालकवलित हो जाता है और वह जीवन्मुक्त्यवस्था को छोड़ देता है, जैसे वायु स्थिर हो जाय, इसी प्रकार विदेह मुक्तिपद में प्रवेश करता है। तदनंतर वह योगी जो वाणी से अगोचर है, जो शून्यवादियों का शून्य है, जो ब्रह्म-वादियों का ब्रह्म है और विज्ञानवादियों का विज्ञान है उसी स्वरूप को पा जाता है। इससे स्पष्ट हो गया कि शून्य और ब्रह्म का स्वरूप एक ही है, जिसको मुक्त प्राप्त करता है। आशा है कि भट्टाचार्यजी अब आगे शून्य और ब्रह्म में एकता स्वीकार करके अद्वैतियों के पक्ष की वकालत न करेंगे।

बौद्धोंने अपने शून्य का ज्ञानरूपत्व भी स्वीकार किया है। यह निम्न लिखित वाक्यों से निश्चित हो जायगा। वे वाक्य ये हैं—

चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः···॥

······आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य सम्मता ॥

केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ॥

(विवेकविलासे ८।२७३)

शून्यवादी माध्यमिक लोग अपने शून्य की ज्ञानरूपता मानते हैं।

गंभीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा ।

भिन्ना हि देशनाऽभिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा ॥

(बोधिचित्तविवरणे)

अद्वैतसिद्धिकारने अपने ग्रन्थ में—

"शून्यवादिभिरपि सत्त्वरहितज्ञानानंदात्मकत्वस्य ब्रह्मणोऽन्यत्रांगीकारात्" इति ।

इस वाक्य से तथा लघुचन्द्रिकाकारके—

"शून्यवादस्य विज्ञानवादविशेषरूपत्वात्"

इस वाक्य से पुष्टीकरण भी किया है । पहिले प्रदर्शित किये हुए शंकराचार्य के—

"यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत् । विज्ञानं विज्ञानविदां···"

इत्यादि वाक्यों से भी शून्य ज्ञानरूप है ऐसा सिद्ध होता है। यदि इस प्रकार शून्य की ज्ञानरूपता मानी है, ऐसा सिद्ध होता है तब 'शून्यवादी शून्य को ज्ञानरूप मानते हैं' ऐसा श्रीस्वामीजी कहें तो क्या हर्ज है ? कुछ भी नहीं। 'शून्यवादी शून्य की ज्ञानरूपता मानते हैं' ऐसा स्वीकार कर भट्टाचार्यजी को अपने प्राचीन आ-

चार्यों का तो सम्मान अवश्य करना चाहिये। ज्ञानरूप शून्य तथा ज्ञानरूप ब्रह्म एक होने से अद्वैतवाद तथा शून्यवाद एकही है।

'सजातीय विजातीयों से (शून्य विज्ञान इत्यादि से) भेद-शून्य हमारा ब्रह्म है।' ऐसा कहनेवाले अद्वैती लोग शून्य विज्ञान प्रतियोगिक भेद अपने ब्रह्म में कैसे मान सकते हैं ? किसी प्रकार से भी नहीं। यदि भट्टाचार्यजी शून्य विज्ञान प्रतियोगिक भेद ब्रह्म में स्वीकार करेंगे तो उनके पीछे अपसिद्धांतरूपिणी पिशाची अवश्य लगेगी। हां ! इसी लिये भट्टाचार्यजी ने भी अपने ब्रह्म में सजातीय विजातीय (शून्य विज्ञान इत्यादि) प्रतियोगिक भेद निषेध द्वारा 'अद्वैतमतविमर्श' में कहे हुए ब्रह्म और शून्य इन दोनों में भेद नहीं है। ऐसे पक्ष का समर्थन करके आपने हमारी ही सहानुभूति दिखलाई है। इसके लिए तो भट्टाचार्यजी को धन्य-वाद ही देना चाहिए।

एक बात और है जिसपर ख़ासकर विद्वानों को ध्यान देना चाहिये। वह यह कि ब्रह्मसूत्रपर भाष्य करते हुए शंकराचार्यजीने यह शंका की है कि सूत्रकारने सूत्रों में शून्यवादी मत का खंडन क्यों नहीं किया ? इसके समाधान में शंकराचार्यजीके लिखे हुए—

"शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराक-रणाय नादरः क्रियते" इति

(शां० भा० २। २।३१)

इसी भाष्य से तथा इस भाष्य के—

"शून्यपदेन सर्वं प्रपंचातीतं भावरूपं किंचित् तत्त्वं विवक्षि-तम् उत अभावरूपम्। नाद्यः तथा सति वाचोयुक्त्यंतरेण ब्रह्म-वाद एवाश्रितः। यदि द्वितीयः पक्षः तदा सर्वप्रमाणविरोधः।

सर्वप्रमाणैः प्रपंचे उपलभ्यमाने तदभाव एवं तत्वमिति निरूपयितु-मशक्यमिति दूषणस्य स्फुटतया तन्निराकरणाय न सूत्रकृता सूत्राण्यारचितानि ।"

इस ब्रह्मविद्याभरण नामक व्याख्या के देखने से यह प्रतीत होता है कि शून्यवादी शून्यको भाव रूप मानें चाहे प्रपंचाभाव रूप मानें, दोनों पक्ष में अद्वैत मत तथा शून्य मत एकही होता है ।

यदि शून्यवादी को भाव रूप मानें तो 'वाचोयुक्त्यन्तरेण ब्रह्मवाद एवाश्रितः" भिन्न शब्द से ब्रह्मवाद ही स्वीकार किया है याने शून्यवाद तथा ब्रह्मवाद एक ही होता है ।

यदि शून्य प्रपंचाभावरूप मानें तो भी 'अद्वैतमतविमर्श' में कहे हुए अद्वैतियों के वचनों से तथा भट्टाचार्यजी के उद्धृत किये हुए—

'ब्रह्मैवाद्वैताभावेत्यङ्गीक्रियते'

इत्यादि अद्वैतियों के वचनों से भी अद्वैत ब्रह्म प्रपंचाभावरूप होने के कारण शून्यवादियों का प्रपंचाभावरूप शून्य तथा अद्वैतियों का प्रपंचाभाव रूप ब्रह्म एकही होता है । अतएव शून्यवाद तथा ब्रह्मवाद का अभेद ही सिद्ध होता है ।

ब्रह्मविद्याभरण ग्रन्थ को ऊपर-ऊपर देखने से ऐसा भासमान होता है कि शून्यवादियों का शून्य प्रपंचाभावरूप होने के कारण अद्वैत ब्रह्म से अलग है । परन्तु भट्टाचार्यजी ने प्राचीन आचार्यों के वचन उद्धृत कर ब्रह्म प्रपंचाभावरूप है ऐसा सिद्धकरके प्रपंचाभावरूप ब्रह्म तथा प्रपंचाभाव रूप शून्य एक ही है इस लिये बौध (शून्य) मत तथा अद्वैत मत एक है ऐसे 'अद्वैत विमर्श' में कहे हुए तथा अपने घोषणापत्र में १०००) मुद्रा पारितोषिक रखे हुए पक्ष का समर्थन ही किया है ।

शायद १०००) मुद्रा पारितोषिक दूसरा कोई न छीन ले इसी

से भट्टाचार्यजीने ऐसा लिखा होगा, परंतु कुछ भी हो पहिले तो अद्वैतविमर्शकारने ही लोगों में यह बात प्रसिद्ध की है। इस लिये उसी को १०००) मुद्रा मिलनी चाहिये। हां, पुष्टीकरण करनेवाले भट्टाचार्यजी को भी कुछ भाग अवश्य मिलना चाहिये।

——※०※——

बौद्धों का विज्ञानवाद तथा अद्वैतियों का विज्ञानवाद ये दोनों एक हैं।

विज्ञानवादी बौद्धों का विज्ञानवाद—

विज्ञान एक सत्य है, उस विज्ञान में समस्त जगत् कल्पित है।

अद्वैतियों का विज्ञानवाद—

विज्ञान एक सत्य है, उस विज्ञान में समस्त जगत् कल्पित है।

इस प्रकार अध्यस्त (आरोपित) जगत् के विषय में तथा अधिष्ठान विज्ञान के विषय में एकता होने के कारण बौद्धों का विज्ञानवाद तथा अद्वैतियों का विज्ञानवाद एक ही सिद्ध होता है। इसका विशेष विचार 'अद्वैतमतविमर्श' में स्पष्ट है, देखने से ज्ञात होगा। श्रीमान् भट्टाचार्यजी ने अपनी खंडन—पुस्तक में लिखा है कि—

"बौद्ध विज्ञान को अनित्य मानता है; श्रीशङ्कराचार्य्य नित्य मानते हैं। बौद्ध ज्ञान को नाना मानता है; श्रीशङ्कराचार्य्य एक मानते हैं।

तत्त्वसंग्रह में ३३२— ३३५ तक विज्ञान के एकत्व का खण्डन किया है। इसलिये विज्ञानवादी बौद्धमत के विवरण में ज्ञान एक सच्ची नित्य वस्तु है (अद्वैतमतविमर्श ३ पृ०, १७ पृ०, १८ पृ०) कहना अशुद्ध है।"

ऐसा लिखने से विदित हो जाता है कि भट्टाचार्यजी ने 'अद्वैत मतविमर्श' ग्रन्थ को नहीं देखा है। यदि भली भाँति देखे होते तो १६ वें पृष्ठ पर उनकी शंका तथा १७ सत्रहवें पृष्ठ पर उसका समाधान भी श्रीभट्टाचार्यजी को मिलजाता और उनके व्यर्थ परिश्रम तथा समय की बचत भी होती। अब भी यदि भट्टाचार्यजी उक्त ग्रंथ को एक बार पढ़लें तो उनकी शंका का समाधान हो जाय।

श्रीमान् भट्टाचार्यजी ने खंडनपुस्तक में बौद्धविज्ञान तथा अद्वैतियों के विज्ञान में भेद बताते हुये लिखा है कि—

"श्रीशङ्कराचार्य्य 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा०६।२।१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) सत्यं 'ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इत्यादि श्रुति प्रमाण तथा युक्ति से ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को एक मानते हैं, उस ब्रह्म को सजातीय भेद, विजातीय भेद तथा स्वगत भेद से रहित मानते हैं (पञ्चदशी २।२०—२५)। बौद्ध विज्ञान को भिन्न भिन्न मानते हैं, इसलिये बौद्धमत में विज्ञान में सजातीय भेद अवश्य होता है।"

यह भट्टाचार्यजी का लेख देखने से श्रीमान् भट्टाचार्य जी को खंडन के तार में हम क्या लिख रहे हैं तथा इससे क्या सिद्ध होगा इत्यादि कुछ भी स्मरण रहा नहीं ऐसा दीखता है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो बौद्धों के विज्ञान से अद्वैतियों का विज्ञान भिन्न है ऐसा प्रदर्शित करते समय अद्वैतियों का विज्ञान सजातीय विजातीय भेद रहित है ऐसा कभी न कहते, क्योंकि ऐसा कहने से भेद तो सिद्ध होता ही नहीं किन्तु 'सजातीय विजातीयों से (शून्य विज्ञान इत्यादिकों से) भेद निषिद्ध होता है, ऐसा भेद निषेध करते हुये भी यदि भट्टाचार्यजी भेद समर्थन का प्रयत्न करेंगे तो स्वव्याहति रूप पिशाची उनका पीछा कभी भी न छोड़ेगी।

यही विषय 'अद्वैतमतविमर्श' नामक ग्रंथ में विस्तार से कहा है, जिज्ञासु लोगों को अवश्य देखना चाहिये।

पूर्वोक्त श्रीशङ्कराचार्य जी के—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत् ।
विज्ञानं विज्ञानविदां.........तत्तत्त्वं तदसौ स्थितः ॥

इन वाक्यों से बौद्धविज्ञान तथा अद्वैत ब्रह्मविज्ञान में भेद नहीं है ऐसा सिद्ध होता है।

ऐसा अधिष्ठान रूप परमार्थतत्त्व के विषय में बौद्धमत तथा अद्वैत मतकी एकता सिद्ध होगयी।

अध्यस्त विषय में भी इन दोनों मतों की एकता है ऐसा श्रीशंकराचार्यजीने-

यद्यपि बाह्यार्थनिराकरणं ज्ञानमात्रकल्पना च अद्वयवस्तुसामीप्यमुक्तं

इत्यादि वाक्यों से कहा है और भट्टाचार्यजीने भी "अद्वैतमत में ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर व्यावहारिक प्रपञ्च को बाधित माना गया; उससे पूर्व समस्त प्रमाणप्रमेयफलव्यवहार को सत्य माना गया:—

"सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः स्वाप्नव्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत्प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेषु अनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते । × × । तस्मात्प्राग् ब्रह्मात्मताप्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः ।"

[शाङ्करभाष्य २।१।१४]

अध्यस्त विषय में साम्य का उपपादन और विवर्तवाद की प्रशंसा करके हमारा कार्य कर दिया है, परंतु वह जगन्मिथ्यात्व सर्व प्रमाणविरुद्ध है प्रत्युत जगत्सत्यत्व श्रुतिसिद्ध है इस विषय का अब विचार करेंगे।

श्रीभवानीशङ्करौ जयतः।

श्रीमनुस्मृतिप्रमेयविचारः

श्रीमथुरायाम्।

श्रीमद्गुरुचरणनलिनमिलिन्दायमान

मानसेन

ज्योतिर्वित्शिवप्रकाशद्विवेदिना

निबद्धः।

वेदरसनवशशिमिते १९६४ वैक्रमाब्दे

सद्धर्माख्यसंस्कृतमासिकपत्रे

क्रमात्प्रकाशितः।

श्रीनित्यस्वरूपब्रह्मचारीद्वारा श्रीदेवकीनन्दन प्रेस वृन्दावनमें मुद्रित

योऽयं स्मार्त्तः षड्विधो धर्मः स्वकर्मशब्दवाच्यः प्रवृत्तिलक्षणो यथाविध्यनुष्ठितो यथोक्ताभ्युदयफलदोऽपि तत्तत्कामानां नश्वरत्वमनुभूय कामतो विरक्तैः परिपक्वकषायैः शुद्धान्तःकरणैर्यदि भगवत्प्रीतिमात्रकामनया स्वनुष्ठितस्तस्मिंस्तत्समर्पितस्तर्हि स एव भगवद्भक्तिजनको भवति स्वभक्त्या प्रसन्नः परमेश्वरो ब्रह्मज्ञानं ददाति तेन च निःश्रेयससिद्धिं मोक्षाख्यां प्रयच्छतीत्येष एव निवृत्तिलक्षणो धर्मः सम्पद्यत इति यथाधिकारं व्यवस्थापितमुत्तरतन्त्र इति दिक्⊛ ।

शुद्धिपत्रम् ।

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठे	पङ्क्तौ
अत शिष्यते	अतः शिष्यते	१	१७
प्रविपादित	प्रतिपादित	२	६
कर्माणि	कर्मणि	५	२०
ह्यदं	ह्यहं	५	२१
मेव	मेय	६	१
वेददवाक्या	वेदवाक्या	११	५
त्यावाह	त्यायिवाह	१५	१७

⊛ 'धर्मं चर । धर्मेण पापमपनुदति । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । इत्यादिश्रुतयः । 'वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः । स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः । यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवः तत्कर्म हरितोषं यत् यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः । इत्यादितदुपबृंहकस्मृतयश्चात्र प्रमाणम् ।

॥ श्रीसाम्बसदाशिवोजयति ॥

स्मृतिपरामर्शः ॥

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः ।

पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥ १ ॥

[भीष्मस्तव]

अथैवं स्मृतिप्रामाण्यसाधनानन्तरं क्रमप्राप्तः स्मृतिप्रमेयविचारः प्रस्तूयते । परामृश्यते चादौ प्रयासस्यास्य सार्थकत्वं प्रतिपादयितुं स्मृतिशास्त्रस्यानुबन्धचतुष्टयम् । अनुबन्धपदं सम्बन्धादिचतुष्टयपरम् । सम्बन्धः अधिकारी प्रयोजनम् विषयः [सिद्धान्तस्तुरीय इति पक्षान्तरम्] इत्येतदनुबन्धचतुष्टयम् । नन्वेतच्चतुष्टयविचारसार्थकत्वे को हेतुरिति चेत्प्रदर्श्यते । अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकस्यानन्तसृष्टावखिलपदार्थानामानन्त्यमुपलक्ष्यते । तत्कर्तुरप्यनन्तत्वात् । बीजस्यानुगुण्यं फले भवत्येवेति न्यायः । अतो धर्मभिन्नानां जातिभिन्नानां देशभिन्नानां कर्मभिन्नानां मानवानां शास्त्राणामप्यानन्त्यम् । तेष्वनन्तशास्त्रेषु किमस्माकमध्येतव्यं मान्यं चेति विचारे तत्सम्बन्धानुबन्धचतुष्टयपरामर्शोऽत्यावश्यकः । नहि कथमपि सम्बन्धं विना कस्मिँश्चिदपि वस्तुनि स्वत्वमुत्पद्यते । ऋते च स्वत्वान्न तस्मिन्नादरः । अत शिष्यते ऽनेनेति शास्त्रशब्दस्य निरुक्त्या कथमनुबन्धचतुष्टयनिर्णयं विना श्रद्धातुं शक्यते शास्त्रे शासकमिदं शिष्याश्चवयमिति अत एव सार्थकत्वमावश्यकत्वं चानुबन्धचतुष्टयविचारस्य प्रत्येकशास्त्रपरामर्शे । कस्यचिच्छास्त्रस्य सम्बन्धोऽधिकारी प्रयोजनं सिद्धान्तश्चेति विद्वत्प्रसिद्धे विचार

चतुष्टये सम्यङ्निर्णीते तत्परामर्शवैयर्थ्याशङ्का निवर्तते अतः स्मृतिशास्त्रस्यानुबन्धचतुष्टयविचारे प्रथमं तावत्सम्बन्धं विचारयामः । सम्बन्धोनाम सम्यग्बध्यते पदार्थद्वयं येनेति । तदस्माकं स्मृतिशास्त्रस्य कथं सम्बन्धः कीदृशश्चैष इत्युच्यते । स्मृतीनां वेदार्थोपनिबद्धत्वन्तु तत्प्रामाण्यविचारे प्राक् सम्यक् प्रतिपादितमेव वेदोदितमूलानामाचारादिधर्माणां । विशेषतो वैदिकजनमात्रोपकारित्वादस्माकं वेदानुयायिनां स्मृतिशास्त्रस्य च मिथः शिष्यशासकसम्बन्धः । यतोनियमायितैर्दृष्टादृष्टवेद प्रतिपादितैर्धर्मैर्लोकश्रेयस्करैरनुशिष्यामहेवयम् । अस्माकं स्मृतिशास्त्रस्य चोभयोर्वेद एवैक आश्रयः । स्मृतिर्व्यञ्जयति वेदार्थं वयं च तदनुकूलमनुतिष्ठामः तस्मादुभयोरेकाश्रसम्बन्धोऽपि । अथ कोऽधिकारी स्मृतिशास्त्रस्येति विचार्यते । तत्र मनुष्याणामेवाधिकारः । कथं न देवादीनाम पश्वादीनामिति चेन्न । धर्मोत्पद्यमानदेहधारिणां सुकृतफलभोक्तॄणामुत्तमानां देवादीनां धर्मानुष्ठाने प्रयोजनाभावात् । तिर्यग्योनिनिविष्टानां दुष्कृत फलैकभोग्यवपुषां धर्माधर्मविवेक रहितानां पश्वादीनां धर्मानुष्ठाने ऽयोग्यत्वादसामर्थ्याच्च । ननु अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानां स्यामिति । स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्" [तै-ब्रा-३-१-४] इति श्रुत्यनुसारेण नक्षत्रेष्ट्यादौ देवानामधिकारः श्रूयते इतिचेन्न । मनुष्यस्यैव कस्यचिद्यजमानस्य भाविनीं संज्ञामाश्रित्य प्रथमान्तेनाग्नि शब्देन व्यवहारात् । अन्यथा युगपदग्नित्रयसंसृष्टिप्रसङ्गात् एतद्विषये पुनरपि समाहितं माधवाचार्यैः । ननु यत्र त्रैगुण्य दोषो नास्ति तत्रास्तु देवताधिकारः । तथाहि श्रूयते । " बृहस्पतिरकामयत श्रन्मे देवादधीरन् गच्छेयं पुरोधामिति । स एतं चतुर्विंशतिरात्रमपश्यत् । तमाहरत् तेनायजत ततो वै त

देवाः श्रद्धन्न अगच्छत् पुरोधाम् । [तै० सं० ७ । १ । १] इति । "श्रत्" विश्वासम् "मे" मयि । "पुरोधाम्" पौरोहित्यम् । "चतुर्विंशतिरात्रम्" एतन्नामकं सत्रं यागमित्यर्थः । मैवम् । अत्रापि भाविसंज्ञाया एवादरणीयत्वात् । अन्यथा बृहस्पतेः कञ्चित्कालं विश्वसनीयत्व, पौरोहित्ययोरभावप्रसङ्गात् । तच्च श्रुत्यन्तरविरुद्धम् । बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहित आसीत् तै० सं० ६ । ४ । ११) इति श्रुत्या पौरोहित्यपुरःसर एव बृहस्पतिसद्भावः प्रकाश्यते अथवैवं समाहितव्यम् । "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । " इति श्रीभगवद्गीतन्यायात्स्वोपयोगाभावेऽपि मनुष्याः प्रवर्तन्तां कर्मस्वित्येव मेवोद्दिश्यानुतिष्ठन्तु कर्माणि देवाः । अस्तुवा स्वोपयोगोऽपि देवानाम् । जगन्निर्वाहेऽधिकृतानां तेषां तद्धेतोस्तपसश्चरणीयत्वात् । 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत ग्रीष्मे राजन्य आदधीत । शरदि वैश्य आदधीत' । (तै० ब्रा० १ । १ । २)इति विहितस्याधानस्य देवेष्वप्यत्रैवर्णिकेष्विवासम्भवः-इतिचेत् । न । रथकारवदुपपत्तेः । अथ मन्यसे अस्ति—रथकारस्य समन्त्रकाधानविधायकं वचनम् 'ऋभूणां त्वा देवानां व्रतपते व्रतेनादधामीति रथकारस्य' (तै० ब्रा० ३१ । ६ । १५ ।)इतिश्रुतेः । नत्वेवं देवानां विधिरस्ति—इति । एवं तर्हि निषादस्थपतिन्यायोऽस्तु । यथा निषादस्य प्रभोराधानविध्यश्रवणेऽपि यागोऽभ्युपगतः तथा देवानामभ्युपेयताम् । 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्'—इत्यस्ति निषादविषयं वचनं-इतिचेत् । किं त्वया विस्मृतानि देवविषयाणि पूर्वोदाहृतवचनानि ? । तेषामर्थवादत्वेऽपि मानान्तराविरोधात् अननुवादाच्च स्वार्थेऽपि तात्पर्यं किं न स्यात् ? ।

अथोच्येत स्मृतीनां धर्मशास्त्रत्वात् तासु धर्ममीमांसा अनुसर्तव्या । तस्यां च न कस्याप्यर्थवादस्य वाच्यार्थे प्रामाण्य-

मभ्युपगतं-इति। तदेतद्वचनं स्मृतिनिर्वाहकंमन्यस्य मीमांसकंमन्यस्य चानर्थायैव स्यात्‘मूषकभयात् स्वगृहंदग्धम्’ इति न्यायावतारात्। कस्यचिदर्थवादस्य स्वार्थे प्रामाण्यं भविष्यति-इतिभयेन अर्थवादैकप्रसिद्धानां स्मृतॄणां मन्वादीनां मीमांसासूत्रकृतो जैमिनेश्च सद्भावस्यैव परित्यक्तव्यत्वात् अशेषेतिहासलोपप्रसङ्गाच्च। तस्मात् प्रमाणमेव भूतार्थवादः। तथाच सति ‘तं पूषाऽऽधत्त०। तं त्वष्टाऽऽधत्त० तं मनुराधत्त०। तं धाताऽऽधत्त०’ (तै० सं० १।५।१।२-३) इत्यर्थवादवशादाधानमपि देवानां किं न स्यात्?। अतएव ‘यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवाः, इति-श्रुतिरपिचरितार्था। ब्राह्मण्याद्यभावे तु कामं वसन्तादिकाल-विशेषनियमो माभूत्। किमायातमाधानस्य?। किञ्च अन्तरेणापि आधानं लौकिकेऽग्नौ यागः क्वचिदुपलभ्यते। अवकीर्णिपशुश्च ‘तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्’’ (पू० मी० ६। ८।२२) इति जैमिनिसूत्रात्। ‘यो ब्रह्मचारी स्त्रियमुपेयात् सोऽवकीर्णी। स गर्दभं पशुमालभेत’(बौ० स्मृ० २।१।१।३० ३१) इत्यवकीर्णिपशुः। यथाक्ता उपनयनहोमो लौकिकाग्नौ तथाऽसौ पशुः इति सूत्रार्थः। एतावता प्रयासेन देवानां कर्माधिकारे साधिते किं तव फलिष्यति?। तथामीमांसार्थां किं छिद्यते?। अभिनिवेशः केवलं शिष्यते। फलं तु जगन्निर्वाहः इति पूर्वमेवोक्तम। अशेषाश्च पुराणादय एवं सति अनुगृहीता भवन्ति। मनुष्यवद्देवानां स्वर्गाय कर्माणि माभूवन् जगन्निर्वाहाय तु भविष्यन्ति। तपसैव तन्निर्वाहः—इतिचेत्। न। स्नान—दान—याग—मौनध्यानादिव्यतिरिक्तस्य तपसोऽनुपलम्भात्। अतएव सत्यसङ्कल्पोऽपि परमेश्वरो राम-कृष्णाद्यवतारेषु लौकिक—वैदिककर्मनटनेनैव जग-

शिरवहम्* । देवा अपि तथा नटन्तु इतिचेत् । एवमपि नटनीयकर्माधिकारो भवता ऽभ्युपगम्यताम । एवं तर्हि 'मानुषाणां 'इति कथमुक्तं ? इतिचेत् । पौरुषेयग्रन्थापेक्षया इति वदामः । न खलु स्वयं प्रभातनिखिलवेदानां देवानां धर्मज्ञानाय पौरुषेयग्रन्थापेक्षाऽस्ति मनुष्याणां तु अतथाविधत्वात् अस्त्यपेक्षा॥

श्रीमन्माध्वास्तु विद्याकर्मभ्यां देवतापदप्राप्त्यनन्तरं ब्रह्मापरोक्षज्ञानेन मुक्तिनिश्चयेऽपि मुक्तावानन्दातिशयार्थं पुरुषोत्तमस्य भूयः प्रसादसम्पादनमावश्यकम् तदर्थमामुक्तेः कर्मोपासनाज्ञानविशेषा अनुष्ठातव्याः स्वाधिकारकाले स्वलोके मुक्तेः पूर्वमपि च ब्रह्मलोके देवैरपि । अतएव 'देवायज्ञमतन्वत, ' तेनदेवाअयजन्त, 'देवायज्ञन्तन्वानाः, इत्यादिश्रुतयश्चारितार्थाः 'उपनिषत्सु च इन्द्रेण हिरण्यगर्भोपसत्ति सम्वत्सरव्रतं च कृत्वा सम्यग्ज्ञानाविशेषो लब्धः । वृत्रहत्यादुरितानिवृत्तये सुरर्षिभिरश्वमेधः सम्पादित इति श्रूयते । अदितिकृतपयोव्रतेन प्रसन्नो भगवानिन्द्राय पुनरपि त्रिविष्टपं ददौ । विश्वरूपान्नारायणवर्मविद्यामवाप्य युद्धे वृत्रं हतवान् । एवं बहून्युदाहरणानि श्रुतिषु पुराणेषु चोपलभ्यन्ते तस्मादप्यास्ति देवानां नित्यानु-

---

* एतदेवोक्तं भगवता—

'न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एवच कर्माणि ।
यदिह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः '॥

[भ० गी० ३। २२।-२३]

मेव्ववेदमूलकस्मृतिप्रोक्तधर्मोत्पादककर्मोपासाज्ञानेष्वप्यधिकार इति वदन्ति।

ननु-पशूनामपि धर्मेऽधिकारः श्रूयते। गावो वा एतत् सत्रमासताशृङ्गाः सतीः शृङ्गाणि नोजायन्ताम् इति कामेन तासां दश मासा निषण्णा आसन्नथ शृङ्गाण्यजायन्त। ता उदतिष्ठन्नराल्स्मेत्यथ यासां नाजायन्त ताः सम्वत्सरमाप्त्वो-दतिष्ठन्नरात्स्मेति' (तै० सं० ७। ५। १। १) इतिश्रुत्या गवां सत्रानुष्ठातृत्वाभिधानात्। 'अरात्स्म' इति कामितार्थसिद्धिं प्राप्ता इत्यर्थः। नायं दोषः। अस्याः श्रुतेरर्थवादत्वात्। 'य एवं विद्वांसः सम्वत्सरमुपयन्ति' (तै० सं० ७। ५। १। २) इति ऋद्धिकामस्य सम्वत्सरसत्रं विधातुं प्रथमतः—'गोसत्रं वै सम्वत्सरः' [तै० सं० ७। ५। १। १-२] इति प्रशंसा कृता। तां सम्भावयितुं 'गावो वा'—इत्यादि पठितम्। न चैतस्यार्थवादस्य-'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्'—इत्यादिवत् स्वार्थेऽपि तात्पर्यं वर्णयितुं शक्यम्। प्रत्यक्षेण श्रुत्यन्तरेण च विरुद्धत्वात्। पशूनां हि मन्त्रोच्चारणे कर्मानुष्ठाने च सामर्थ्याभावः प्रत्यक्षसिद्धः। श्रुत्यन्तरं च 'अथेतरेषां पशूनां अशनायापिपासे वा अभिज्ञानं वदन्ति। न विज्ञातं-पश्यन्ति। न विदुः श्वस्तनम्'—इति पशूनां विवेकाभावं दर्शयति। अस्तु वा अस्यार्थवादस्य स्वार्थे तात्पर्यम्। 'गोशब्देन गवाभिमानिदेवतानां विवक्षितत्वात्। अतएव 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (शा० सू० २। १। ५]इति सूत्रे भगवान् बादरायणः सर्वेषां मृदादिवस्तूनां श्रुतिमूलत्वेनाभिमानिदेवताः प्रतिपादयामास। तस्मात् सर्वथा देवर्षि मनुष्यमात्राधिकारकं नित्यानुमेयवेदमूलकं स्मृतिशास्त्रमिति सिद्धम्।

परन्तु पराशरस्मृतिव्याख्याकृद्भिः श्रीमन्माधवाचार्यैस्त्वेवमेव सिद्धान्तितं यन्मनुष्यमात्राधिकारकमेतच्छास्त्रमिति । एवं निर्णीते ऽधिकारिणि किम्प्रयोजनं स्मृतिशास्त्रप्रणयनस्येति क्रमप्राप्तं विचार्यते । यतः "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्त्तते" इति लोकप्रसिद्धम । मनुष्यमात्राधिकारकं स्मृतिशास्त्रमिति पक्षे मनुष्याणामल्पज्ञत्वाद्धेतोरलौकिकवाङ्निबद्धस्याम्नायार्थस्य दुरवबोधत्वात्ताननुजिघृक्षवो मन्वादिमहर्षयः श्रुत्यनुवादरूपं स्मृतिशास्त्रं लोकभाषया निर्ममिरे । देवादीनां तु वेदार्थावगमसामर्थ्यात् तदुपदिष्टाखिलधर्मानुष्ठितिसौलभ्याच्च न तादृशं प्रयोजनं स्मृतिशास्त्रस्य परन्तु मनुष्याणामतथात्वे श्रुत्यर्थस्य स्फुटीकरणंविशदीकरणं चैव स्मृति शास्त्रप्रणयनस्य प्रयोजनम । श्रीपराशरधर्मसंहितायामाद्यस्याचारकाण्डस्य द्वितीयश्लोके "हित" मिति प्रयोजनं निर्दिष्टम यथा "मानुषाणां हितं धर्मं वर्त्तमाने कलौ युगे । शौचाचारं यथावच्च वद सत्यवतीसुतेति" (परा० स्मृ० का० १ अ० १ श्लो० २) मनुष्यादीनां हितायैव धर्मप्रतिपादकस्य स्मृतिशास्त्रस्य प्रवृत्तिः । अभिमतफलसाधनत्वं हि धर्मस्य हितत्वम कतिविधं तत्फलमित्यूहितं श्रीमाधवाचार्य्यैस्तद्व्याख्याकृद्भिः । तच्च फलं द्वेधा । ऐहिकमामुष्मिकञ्चेति । अष्टकादिसाध्यं पुष्ट्यादिकम् ऐहिकम । आमुष्मिकं द्वेधा । अभ्युदयो निःश्रेयसं च । तत्राभ्युदयस्य साक्षात् साधनत्वम । निःश्रेयसस्य तु तत्त्वज्ञानोत्पादनद्वारेण । तथा च स्मर्यते— 'धर्मात् सुखं च ज्ञानं च ज्ञानान्मोक्षो ऽधिगम्यते' । इति । अत्र केचिदाहुः—'नित्यकर्मणां फलमेव नास्ति । अकरणे प्रत्यवायभीतैः केवलमनुष्ठीयन्ते । तत्र कुतो ऽभ्युदयहेतुत्वं निःश्रेयसहेतुत्वं च—इति । अपरे पुनरन्यथाहुः—अभावाद्भावोत्पत्ते-

रदर्शनात् अकरणे प्रत्यवायो न युक्तिसहः । नापि तत्र प्रमाण-मस्ति'—इति । ननु–उपनयनाध्ययनादिविहितानामकरणे प्रत्यवायः स्मर्यते– 'अत*ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः सावित्रपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः' । (म० स्मृ० २ ३९, वि० स्मृ० २७ २७) यो ऽनधी*त्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः (म० स्मृ० २ १६८, व० स्मृ० ३ २) 'अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतन-मृच्छति' ॥ इति । नैवम् । एतानि हि वचनानि नित्यकर्मान-नुष्ठायिनः आलस्यनिमित्तं पूर्वसञ्चितं दुरितं यत् तत्सद्भावं सूचयन्ति । एतच्च तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यव्याख्याने भाष्यकारवार्त्तिक-काराभ्यां प्रतिपादितम् । यदि अकरणं प्रत्यवायस्योत्पादकं

---

* उपलभ्यते चैतद्वचनं मनुसंहितायां विष्णुस्मृतौ अन्यत्र च । यथाकालं यो यस्यानुकल्पिको ऽप्युपनयने काल उक्तः षोडशवर्षादिः । आर्यैः शिष्टैः विगर्हिताः व्रात्यसंज्ञा भवन्ति ।

* अन्यत्र अर्थशास्त्रादौ । स जीवन्नेव सान्वयः पुत्र—पौत्रादिसहितः शूद्रत्वं गच्छति । उशनसातु यो न्यत्र कुरुते यत्नमधीत्य श्रुतिं द्विजः । सवै मूढो न सम्भाष्यो वेदबाह्यो द्विजातिभिः । [उ. स्मृ. ३. ८१] इति असंभाष्यत्वमुक्त्वा— 'योऽधीत्य विधिवद्वेदं वेदान्तं न विचारयेत् । स सान्वयः शूद्रकल्पः स पाद्यं न प्रपद्यते [उ. स्मृ. ३. ८३.] इति वेदानधीत्यापि वेदान्तविचाराकरणे शूद्रकल्पत्वमुक्तम् । वेदमन-धीत्यापि वेदाङ्गस्मृत्याद्यध्ययने न दोषः एतदेवाभिप्रेत्य शङ्ख लिखितावाहतुः 'न वेदमनधीत्यां विद्यामधीयीत' अन्यत्र वेदाङ्ग स्मृतिभ्यः इति ।

यदि वा सूचकम् उभयथाऽपि नित्यकर्मानुष्ठानेन प्रत्यवायस्य प्रागभावप्रतिपालनं प्रध्वंसाभावोत्पादनंच सम्पद्यते । दुरित-प्रध्वंसित्वं च त्रिसन्ध्यमनुष्ठीयमानेषु 'सूर्यश्च' (म० ना० उ० १४ ४) 'आपःपुनन्तु' (म० ना० उ० १४ २) 'अग्निश्च' (म० ना उ १४ ३) इतिमन्त्रेषु विस्पष्टमवभासते । एवञ्च सति उप-भोग्यफलरहितानां नित्यकर्मणां अभ्युदयहेतुत्वं दुरापम् इति अत्रोच्यते । अस्तुवा प्रत्यवायविरोधित्वम् । नैतावता फलाभावः मन्त्रलिङ्गेन श्रुति-स्मृतिवाक्याभ्यां च तत्फलावगमात् । 'मयि वर्चो बलमोजो निधत्त'-इतिमन्त्रलिङ्गम । छान्दोग्यवाक्यं च आश्रमत्रयस्य लोकहेतुना चतुर्थाश्रमस्य मोक्षहेतुतां दर्श-यति । 'त्रयोधर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनन्दानमिति । प्रथमस्तपएव ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयो ऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽव सादयन् । सर्वएते पुण्यलोकाभवन्ति ब्रह्मसंस्थो ऽमृतत्वमेति (छां. उ. २. २३. १) एतस्य च वाक्यस्य आश्रमपरत्वं 'परा-मर्श जैमिनि' (शा. सू. ३. ४. १८) इत्यादिभि र्व्याससूत्रैः प्रतिपादितम् स्मृतिवाक्यं चैतत् 'तद्यथा आम्रे फलार्थे निमित्ते छायागन्ध इत्यनूद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूद्यन्ते, इति इदञ्च वाक्यं नित्यकर्मविषयत्वेन वार्त्तिके विश्वरूपाचार्य उदा-जहार-आम्रे फलार्थइत्यादि ह्यापस्तम्बस्मृतेर्वचः । फलवत्त्वं समाचष्टे नित्यानामपि कर्मणाम् (बृ. उ. भा. वा. १. १. ९७) इति तथाच मनुः वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः। तद्धिकुर्वन् यथाशक्ति आप्नोति परमां गतिम (म. स्मृ. ४. १४) इति । कूर्मपुराणेऽपि 'यथाशक्ति चरेत्कर्म निन्दितानि विवर्ज-येत् । विधूय मोहकलिलं लब्ध्वा योगमनुत्तमम् । गृहस्थो मुच्यते बन्धात् नात्रकार्या विचारणा ॥ (कू. पु. १. २, १५. २८. २९.) इति । ननु-अस्त्वेवम अभ्युदयहेतुत्वं तु न सम्भवति ।

प्रमाणाभावात्प्रत्युत श्रुति-स्मृतिभ्यां तन्निषिद्ध्यते "न कर्मणा न प्रजया धनेन" (म. ना. उ. १०. ५. कै. उ.) इति श्रुतिः । 'ज्ञानादेवतु कैवल्यम्' इति स्मृतिः । मैवम् परमात्मप्रकरणे निःश्रेयसहेतुवेदनेच्छासाधनत्वेन यज्ञादीनां विधानात् । "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" इतिश्रुतेः निषेधस्तु साक्षान्निःश्रेयससाधनत्वं गोचरयिष्यति . तस्मात् न मुक्तानां अग्न्याधानादिकर्मापेक्षा ऽस्ति . वेदनोत्पत्तौ सा विद्यते . एतश्च उभयम्—अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा [शा. सू. ३. ४. २५) सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् [शा. सू.३.४.२६] इत्याभ्यामधिकरणाभ्यां निर्णीतम् . तथाच कर्मणां परम्परया मोक्षहेतुत्वं वायवीयसंहितायामभिहितम् 'कर्मातिशयमासाद्य पशोः पाशपरिक्षयः । एवं प्रक्षीणपापस्य बहुभिर्जन्मभिः क्रमात् ॥ भवेद्विषयवैराग्यं वैराग्याद्भावशोधनम् । भावशुद्ध्युपपन्नस्य शिवज्ञानसमन्वयः ॥ ज्ञानध्यानाभियुक्तस्य पुंसो योगः प्रवर्तते ॥ योगेनतु परा भक्तिः प्रसादस्तदनन्तरम् । प्रसादान्मुच्यते जन्तुः मुक्तः शिवसमो भवेत् [शिपु. ५. १. २. ६९. ७६] इति ननु प्रत्यवायपरिहाराय पुण्यलोकप्राप्तये ब्रह्मवेदनाय च प्रतिदिनं नित्यकर्मणस्त्रिः प्रयोगः प्राप्तः । तन्न । खादिरवत् सकृत् प्रयुक्तस्यैव वचनसंयोगभेदेन फला भेदोपपत्तेः । 'खादिरो यूपो भवति' [तै. ब्रा. २. ४. २४] इतिक्रत्वर्थं वचनम् । 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत इतिवचनं पुरुषार्थम् । तदेतत् वचनद्वयम् एकस्यैव खादिरस्य प्रयोजनद्वैविध्ये हेतुः । 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् [पू. मी. ४. ४. ३१] इतिजैमिनि सूत्रात् । एवमत्रापि पूर्वोदाहृतवचनत्रयबलात् प्रयोजनत्रैविध्ये- ऽपि सकृदेव प्रयोगः तच्च "विहितत्वाच्चाश्रम कर्मापि, [शा. सू. ३. ४. ३२] इत्यस्मिन्नधिकरणे निर्णीतम् . न च

नित्यस्यापि फलवत्त्वे नित्यकाम्ययोर्भेदाभावः इति शङ्कनीयम् करणे फलसाम्येऽपि अकरणे प्रत्यवायतदभावाभ्यां तद्भेदात् । न खलु आयुष्काम-वृष्टिकामेष्ट्याद्यकरणे कश्चित्प्रत्यवायःश्रूयते । एवएव नित्यन्यायो नैमित्तिकेऽप्यवगन्तव्यः । 'स्कन्नेजुहोति भिन्नेजुहोति इत्यादि अनियतवेदरवाक्याधिकारिविशेषणोपेतं नैमित्तिकम् । नित्यवत् काम्यस्यापि विहितत्वेन शुद्धिहेतुत्वात् मोक्षसाधनत्वं—इतिचेत् । न * रागप्राधान्यात् । शुद्धिस्तु उपसर्जनत्वेन रागविषयं भोगं सम्पाद्योपक्षीयते । अतएव गीतायां भगवता मुमुक्षोरर्जुनस्य फलासक्तिर्निषिद्धा—'योगस्थः कुरुकर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय । सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्व योग उच्यते (भ० गी० २—४८) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि ' भ० गी० २-४७ इत्यादिना । नित्यकर्मणि तु बुद्धिशुद्धिः प्रधानम् । फलमुपसर्जनम् । अतएव भुज्यमानेनापि फलेन तदनित्यत्व—सातिशयत्वदोषदर्शनरूपो विवेको न प्रतिवध्यते । तदुक्तं वार्त्तिककारेण—' नित्येषु शुद्धेःप्राधान्यात् । भोगोऽप्यप्रतिबन्धनः । भोगं भंगुरमीक्षन्ते बुद्धिशुद्ध्यनुरोधतः (बृ० उ० भा० १-१-६०८) इति नित्यञ्च कर्मद्विविधम् । संस्कारकं विविदिषाजनकञ्च । विहितत्वमात्रबुद्ध्या क्रियमाणं संस्कारकम् ॥ तथाच स्मर्यते । ' यस्यते. ऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः स ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां गच्छति ' इति । तच्च भगवता-ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणं विविदिषाजनकम् ।

---

* ' राग शब्देनात्र विषयसेवनाभिलाष एव ग्राह्यः । नेच्छामात्रम् । ' सुखानुशयीरागः (२-७) इति योगसूत्रात् ' सुखाद्रागः ' (६-२—१०) इति वैशेषिकसूत्राच्च विषयगोचराभिलाषस्यैव रागत्वाभिधानात् ॥

स्पती । पराशरव्यासशङ्खलिखितादक्षगौतमौ । शातातपोवसिष्ठश्चधर्मशास्त्रप्रयोजकाः । * इति वचनाद्विंशतिसङ्ख्याकाः स्मृतयः । तत्राद्यायाः श्रीमनुस्मृतेः द्वादशाध्यायाः सन्ति । तत्र प्रथमाध्यायस्य समाप्तौ मानवधर्मशास्त्रार्थसङ्ग्रहो यथा 'जगतश्चसमुत्पत्तिं संस्काराविधिमेव च । व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥ दाराधिगमनं चैव विवाहानाश्चलक्षणम् । महायज्ञविधानञ्च श्राद्धकल्पश्चशाश्वतः । वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानिच । भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां सिद्धिमेवच । स्त्रीधर्मयोगं तापस्यम्मोक्षं सन्न्यासमेवच । राज्ञश्चधर्ममखिलं कार्याणाञ्च विनिर्णयम् । साक्षिप्रश्नविधानञ्च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि । विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानाञ्च शोधनम् । वैश्यशूद्रोपचारंचसङ्कीर्णानां च सम्भवम् । आपद्धर्मञ्चं वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा । संसारगमनंचैव त्रिविधं कर्मसम्भवम् । निःश्रेयसं कर्मणांच गुणदोषपरीक्षणम् । देशधर्माञ्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्वतान् । पाषण्डगण धर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ ११८ ॥ तत्र प्रथमाध्याये ११९ श्लोकाः तेषु शास्त्रप्रश्नोत्तरोपक्रमश्चतुर्भिः । जगदुत्पत्तिप्रलयाद्विपञ्चाशद्भिः । मनु शास्त्रप्रचारास्त्रिभिः । मन्वन्तराहोरात्रादिमानं त्रयोदशभिः । स्थूलपञ्चमहाभूतसृष्टिश्चतुर्भिः । द्वाभ्यां मन्वन्तरं तन्मानञ्च । षड्भिर्युगधर्माः । पञ्चाभिश्चतुर्णां वर्णानां धर्माः । दशभिर्ब्राह्मणमहिमा । मानवशास्त्राध्ययनप्राशस्त्यं

* मिताक्षरायाम् । ' प्रागुपनयनात्कामचारः कामवादः कामभक्षः ऊर्ध्वमुपनयनात्प्राग्वेदाध्ययनोपक्रमाद्धर्मशास्त्राध्ययनम् । ततो धर्मशास्त्रविहितयमनियमोपेतस्य वेदाध्ययनम् । ततस्तदर्थजिज्ञासा ततस्तदर्थानुष्ठानमिति, धर्मशास्त्राध्ययनकालादिनिर्णयः ।

कामत्यागाभावस्त्रिभिः एकेन तेषु प्रवर्तनम् दशभिर्धर्मप्रमाणानां विचारः एकेन मानवधर्मशास्त्रेऽधिकारः नवभिर्धर्मदेशनिरूपणम् त्रयोशभिश्चतुर्णां वर्णानां गर्भाधानादियज्ञोपवीतान्ताः संस्काराः द्वाभ्यां सावित्रीपतितानां सम्बन्धत्यागः सप्तभिश्चतुर्णां वर्णानां मौञ्ज्युपवीतदण्डाः दशभिर्भैक्ष्यतदशननियमाः पञ्चभिराचमनविधिः एकेन निवीत्यादिलक्षणम् एकेन विनष्टमेखलादीनां पुनर्ग्रहणम् चातुर्वर्ण्यकेशान्तकाल एकेन द्वाभ्याममन्त्रकाः स्त्रीणां संस्कारा एते विंशतिभिर्वेदाध्ययनम् त्रयोदशभिरिन्द्रियजयः त्रिभिः सन्ध्याकालस्तन्नित्यताच चतुर्भिर्ब्रह्मयज्ञनित्यता एकेन ब्रह्मचारिनियमाः अष्टभिरध्यापनविधिः सप्तदशभिरभिवादनप्रत्यभिवादने चतुर्भिश्चतुर्षु वर्णेषु तारतम्यम् द्वाभ्यां मार्गदाननियमः एकैकेनाचार्योपाध्यायगुरु ऋत्विजां लक्षणानि पञ्चदशभिस्तेषां महिमा द्विजब्रह्मचारिणां गुरुकुलवासब्रह्मचर्यादिनियमा एकनवत्या सविस्तरश्चाध्यायपरिसमाप्तिपर्यन्तमुक्ता इति अथ तृतीयाध्याये २८६ श्लोकाः तत्रैकेन ब्रह्मचर्यविधिः ततस्त्रिभिर्गृहस्थाश्रमप्रवेशः विवाहविवेचने द्वादशभिः कन्याविचारः पञ्चविंशत्या वाहभेदास्तत्फलानि च द्वाभ्यां सवर्णाऽसवर्णा विवाहविधिः षड्भिर्दारोपगमनविचारः त्रिभिः कन्याविक्रयनिन्दा अष्टभिः कन्यादिपूजनविधिः फलञ्च द्वाभ्यां कुलापकर्षोत्कर्षकर्माणि पञ्चपञ्चाशता पञ्चमहायज्ञविचारः अष्टचत्वारिंशता श्राद्धे ब्राह्मणविचारः चतुर्विंशत्याभोक्तृलक्षणानि द्विनवत्या श्राद्धदेशकालादिनिर्णयस्तद्विधिश्च चरमेणैकेनाध्यायोपसंहार इति॥ अथ चतुर्थाध्याये २६० श्लोकाः तत्र द्वादशभिः श्लोकैर्गार्हस्थ्ये जीविकाविचारः त्रयस्त्रिंशता गृहस्थकर्तव्याकर्तव्यानि सप्तभिर्विण्मूत्रोत्सर्गविचारः पञ्चत्रिंशतागृहस्थस्य विधिनिषेधौ त्रिभिर-

कविंशति नरकनामानि त्रिभिः प्रातःकर्त्तव्यम् त्रिभिरुत्सर्जनोपाकर्मकालः त्रिभिर्वेदाध्ययनम् वेदाध्ययनस्यानध्यायाः देशकालोपाधियुताश्चाध्ययनाविधिनिषेधाः सप्तविंशत्या पुनः सामान्यविशेषविधिनिषेधौ सप्तविंशत्या चतुर्भिः सदाचारविधिः हिंसा नास्तिक्य ताडनाद्यधर्मस्य निषेधः पञ्चदशभिः शिष्यशासन-अर्थकामत्याग-चापल्य-कुलानुसरण ऋत्विगादिभिर्वादत्यागश्च सप्तभिः प्रतिग्रह निन्दा तत्पात्रविचारश्च षोडशभिः प्रायश्चित्तव्रतादिषु वञ्चननिषेधस्त्रिभिः स्नानादियमनियमाश्च चतुर्भिः एकविंशत्यातिथि अभोज्यान्नं तन्निषेधाश्च एकादशभिर्जलभूवेदादिदानस्य विधिः अनृतफलमेकेन षड्भिर्धर्मप्राशस्त्यम् उत्तमैः सम्बन्धं कुर्यात् इतित्रिभिः स्वयमुपास्थितामेधोदकादि भिक्षां न त्यजेदिति षड्भिः योग्यशूद्रान्नं भोज्यंत्रिभिः पुत्रन्यस्तकुटुम्बो हितं चिन्तयेदिति द्वाभ्याम् द्वाभ्यास्पूर्वोक्तगृहिधर्मफलश्रुतिः ॥ अथ पञ्चमाध्याये १६९ श्लोकाः तत्र विप्राणां मृत्युकारणानि त्रिभिः लशुनमांसाद्यभक्ष्याणि तत्र प्रतिप्रसवाश्च त्रिपञ्चाशता मरणाशौचं तत्र विधिनिषेधापवादनियमाश्चाष्टचत्वारिंशता द्रव्यशुद्धिरेकचत्वारिंशता विंशत्या स्त्रीधर्माः । भार्यामरणे श्रौताग्निना दाहो द्वाभ्याम् पुनर्भार्याग्रहणम् ॥ अथ षष्ठाऽध्याये ९७ श्लोकाः तत्र द्वात्रिंशच्छ्लोकैर्वानप्रस्थाश्रमधर्माः ततश्चतुःपञ्चाशता संन्यासधर्माः । ततश्चतुर्भिर्गृहस्थाश्रमस्य माहात्म्यम् । चतुर्भिर्धृतिक्षमादिरूपस्य दशविधधर्मस्य माहात्म्यम् । द्वाभ्यां कर्मसंन्यासः ॥ अथ सप्तमेऽध्याये (२२६) श्लोकाः ॥ तत्र राजलक्षणतत्प्रशंसादि त्रयोदशभिः तत एकोनविंशतिश्लोकैर्दण्डोत्पत्तिविधिनिषेधाः । राज्ञा-विनय-विद्या-इन्द्रियजय-कामक्रोधलोभादिव्यसनत्यागवता भावितव्यमिति चैकविंशत्या मन्त्रिसेनापतिदूतदुर्गनियोजनादि—त्रयोविंशत्याः । दश-

भिर्विवाहयज्ञदानादि । दशभिः सङ्ग्रामसम्बन्धिविधिनिषेधाः । षड्भिर्गजाश्ववृद्धिस्तच्छिक्षा । एकादशभिःप्रजासंरक्षणम् । द्वादशभिर्ग्रामकार्यकर्त्रादि । चतुर्दशभिर्वणिजादिभ्यः करग्रहणम् । षड्भिर्मन्त्रसम्बन्धिविधिनिषेधाः । धर्मकामचिन्तनं दूतप्रेषणं प्रजाप्रकाराः शत्रुप्रकृतिपरिज्ञानं च नवभिः । सन्धिविग्रहयानादिषड्गुणाः सामादिचत्वारउपायाश्चैकचत्वारिंशद्भिः । जयोत्तरं ब्राह्मणपूजनं प्रजायाअभयं करग्रहणादि च षड्भिः । मित्रशत्रूदासीनाः पञ्चभिः । शेषपञ्चदशभिः प्रकीर्णधर्माः ॥ अथाष्टमेऽध्याये ४२०) श्लोकाः । तत्र द्वाभ्यां सभाप्रवेशः । ऋणादानाद्यष्टादश व्यवहारपदानि षड्भिरुक्तानि । त्रिभिःसभास्वरूपम् । अष्टभिः सभासम्बन्धिधर्माधर्मविचारः । द्वाभ्यां धर्मनिर्णये शूद्रनिषेधः । यद्राष्ट्रंशूद्रभूयिष्ठंनास्तिकाक्रान्तमद्विजम् । विनश्यत्याशुतत्कृत्स्नदुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ २२ ॥ चतुर्भिर्व्यवहारद्रष्टुःकर्त्तव्यम् । बाल-वन्ध्यादिधनंराज्ञासंरक्षणीयमितित्रिभिः । नष्टस्वामिकधनविषये-निधिविषयेचनिर्णयोनवभिः । चौरधनंराज्ञंदेयमित्येकेन । सत्यसदाचारादिराजनियमाःषड्भिः । ऋणनिर्णयश्चतुर्दशभिः । साक्षिसत्यासत्यत्वविचारश्चाष्टचत्वारिंशद्भिः । अष्टभिःशपथःसाक्ष्यभावे । कौटसाक्ष्यंद्वाभ्याम् । दण्डतत्स्थानादित्रादशभिः । दण्डेपणादिमानंसप्तभिः । सहसभेदएकेन । ऋणदानेदण्डनियमश्चैकेन । अष्टादशभिर्वृद्धिव्यवहारः । द्वादशभिःप्रतिभूविषये । अत्रैव'यस्त्वधर्मग्राह्याग्राह्यधनादानत्यागादिराजनियमाअष्टभिः । अत्रैव'यस्त्वधर्मणकार्याणिमोहात्कुर्यान्नराधिपः । अचिरात्तं दुरात्मानंवशेकुर्वन्तिशत्रवः ७५ । अष्टादशभिर्निक्षेपनिर्णयः । अस्वामिकविक्रयादिसप्तभिः । द्वाभ्यांकन्याविषये । ऋत्विगादिभ्योयज्ञीयदक्षिणादिदापनविषयोनवभिः । त्रिभिर्भृत्यवेतनम् । चतुर्भिःसमयोल्लंघनदण्डः । क्रीतप्रत्यर्पणेऽवधिदण्डौद्वाभ्याम् । कन्याविषयेनिर्णयःपञ्चभिः ।

पशुस्वामिपशुपालयोर्विवादे निर्णयः षोडशभिः । सीमानिर्णयो द्वाविंशतिभिः । वाक्पारुष्यं द्वादशभिः । दण्डपारुष्यनिर्णयस्त्रयोविंशतिभिः । स्तेनदण्डो द्विचत्वारिंशद्भिः । साहसे दण्डनिर्णयश्चत्वारिंशद्भिः । ऋत्विग्यजमानमातृपितृस्त्रीपुत्रत्यागे दण्डो द्वाभ्याम् । राज्ञा द्विजाधमकार्यविवादे शास्त्रार्थाकथनं द्वाभ्याम् । प्रातिवेश्याद्यभोजने दण्डो द्वाभ्याम् । रजकतन्तुवायदण्डो द्वाभ्याम् । षड्भिः शुल्कादानम् । तरपण्यग्रहणं षड्भिः । षड्भिश्चतुर्वर्णानां वृत्तिविचारः । भार्यापुत्राद्यधना द्वाभ्याम् । राज्ञः कर्त्तव्यं त्रिभिरिति ॥ अथ नवमाध्यायस्य (३३६) श्लोकाः तत्र षोडशभिः स्त्रीरक्षणम् । एकेन स्त्रीस्वभावः । एकेन तासाममन्त्रसंस्काराः । न्यूनगुणा अपि भर्तृगुणैरुत्कृष्टा भवन्तीति सप्तभिः । पञ्चभिः स्त्रीप्रशंसा तत्कर्त्तव्यं तद्धर्माधर्मौ च । सन्ततौ बीजस्य प्राधान्यात्परस्त्रीषु तन्न वप्तव्यम् इत्यादि चतुर्दशभिः । द्वाभ्यां स्त्रीपुरुषयोरैकग्रम् । दायः कन्याचस नवभिः । अष्टभिर्नियोगः । षड्भिर्नियोगखण्डनम् । कन्यायाः पुनर्दाननिषेधः । कन्यादातुः कपटेन दोषवत्या विधिवद्ग्रहणेऽपि त्यागश्च त्रिभिः । त्रिभिः प्रोषितभर्तृकानियमाः । स्त्रीणां त्यागः संग्रहश्च त्रिभिः । अधिवेदनम् पञ्चभिः । विवाहितास्वनेकवर्णासु कर्तव्यता त्रिभिः । योग्यवरायैव कन्यादानं द्वाभ्याम् । चतुर्भिः स्वयम्वरम् । विवाहकाल एकेन । एकेन स्त्रीभरणम् । श्रौतधर्माधिकार एकेन स्त्रीणाम् । चतुर्भिः कन्याशुल्कग्रहणनिषेधः । त्रिभिः स्त्रीधर्मोपसंहारः । दायभागग्रहणे ज्येष्ठपुत्रप्रशंसा सप्तभिः । सप्तभिरंशग्रहणे विशेषाः एकेन स्वसुः विवाहसंस्कारार्थं त्रिभागदानम् । अजादिविषमं ज्येष्ठस्यैव । ज्येष्ठनियोगजस्य समो भागो द्वाभ्याम् । अनेकमातॄणां मध्ये जन्मना ज्येष्ठत्वं पञ्चभिः । पुत्रिकासुतदौहित्रस्य रिक्थापिण्डग्रहणे निर्णयश्चतुर्दशभिः । दत्तकस्य विभागो द्वाभ्याम् ।

जारजकामज-अविधिनियोगजेभ्योदायोनेतिद्वाभ्याम् । विधिवं-
न्नियोगजस्यदायश्चतुर्भिः । अनेकवर्णासुजातेभ्योविभागोऽष्टभिः ।
एकेनशूद्रीसुतांशः । चतुर्विंशैर्द्वादशधापुत्राः । पितृव्याःसपत्न-
भ्रातरश्चैकेनपुत्रेणपुत्रिणइतिद्वाभ्याम् । औरसाभावेऽन्येभ्योदाय-
विभागःसप्तत्रिंशद्भिः । दशाभिर्द्यूतनिषेधतद्दण्डाः । धनोष्मणा-
कार्यघ्नराजपुरुषस्यदण्डाश्चतुर्भिः । अष्टभिःपञ्चमहापातकिभ्यो-
दण्डाः । महापातकिधनञ्जलादौक्षिपेद्राजेतित्रिभिः । ब्राह्मण-
पीडने दण्ड एकेन । वध्यमोक्षणेदोषोद्वाभ्याम् । राजा-
कण्टकोद्धरणेयत्नं कुर्यादित्येकेन । आर्यरक्षाफलमेकेन । तस्करा-
द्यशासनेदोषएकेन । निर्भयराज्यवर्द्धनमेकेन । तस्करदण्डविचारः
षोडशभिः । स्वधर्मच्युतदण्डएवं चौराद्युपद्रवरक्षार्थमधावतश्च
दण्डोविहितस्त्रिभिः । राज्ञः कोषहराः प्रतिकूला उपजापकाश्च
दण्ड्याइत्येकेन । पुनस्तस्करदण्डास्त्रिभिः । तडागागारादिभेद-
नेदण्डस्त्रिभिः । राजमार्गेमलादित्यागेदण्डोद्वाभ्याम् । एकेन मिथ्या
चिकित्सनेदण्डः । संक्रमध्वजयष्टिप्रतिमादिभेदने, मणीनामपवेधा
दौ, विषमव्यवहारे च दण्डास्त्रिभिः । कारागारं राजमार्गेकुर्यादि
त्येकेन । प्राकारादिभेदेदण्डएकेन । अभिचारे दण्डएकेन
। अबीज विक्रयेदण्डएकेन । स्वर्णकारदण्डएकेन । हलोपकरण-
हरणे दण्डएकेन । स्वाम्यमात्यादिसप्तप्रकृतिविचारश्चतुर्भिः ।
चारादिनास्वपरशक्तिज्ञानमेकेन । सन्धिविग्रहादिकार्यमारम्भणी-
यमित्येकेन । राजैव कृतादियुगकारणमिति द्वाभ्याम । इंद्राद्यष्टदे-
वानां तेजोवृत्तं विभर्तिराजेतिनवभिः । एतैरुपायैश्चौरनिग्रहः का-
र्यइत्येकेन । दशभिर्ब्राह्मणमाहिमा । पुत्रेराज्यं दत्वा रणे प्राणत्यागः
कार्यइत्येकेन । द्वाभ्यां राजधर्मोपसंहारः । सार्धाष्टकेन वैश्य
धर्माः । सार्धैकेन शूद्रधर्माः । एकेनाध्यायार्थ निगमनम । अथ
दशमेऽध्याये [१३१] श्लोकाः ॥ त्रिभिर्ब्राह्मणस्यश्रैष्ठ्यं । द्वाभ्यां

चत्वारो वर्णाः । द्वाभ्यां सदृशाः । द्वादशभिरनुलोमप्रतिलोम-वर्णसंकराः । व्रात्यतत्संकराएकविंशतिभिः । उपनयनयोग्या-एकेन । तपोबीजप्रभावैरुत्कर्षं क्रियालोपादपकर्षं प्राप्नुवन्तीति द्वाभ्याम् । वर्णाबाह्यानां वृत्यादित्रयोदशभिः । तेषां परीक्षादि-षड्भिः । एकेनाहिंसासत्यास्तेयशौचेन्द्रियनिग्रहाश्चतुर्णां वर्णा-नाम् । सप्तमेजन्मनि ब्राह्मणत्वं शूद्रत्वं चैकेन । वर्णसङ्करे श्रेष्ठ-त्वादि परीक्षणं नवभिः ब्राह्मणादित्रयाणां कर्माणिसप्तभिः । आपदिवृत्तयः पञ्चभिः । सप्तभिरविक्रेयाः । त्रिभिर्विनिमातव्याः । उत्तमवर्णाजीविकानिषेधोद्वाभ्याम् । आपदिवैश्यशुद्रब्राह्मणानां वृत्तयः सप्तदशभिः । एकेनसप्तधनागमाः । एकेनदशजीवनहेतवः ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां वृद्धेर्धनं न ग्राह्यम् इत्येकेन । आपदिराज्ञो-धर्मास्त्रिभिः । नवभिः शूद्रधर्माः । द्वाभ्यामुपसंहारः । अथैकादशे ऽध्याये [२६६) श्लोकाः । तत्र नवविधस्नातकेभ्योवेद्यांसद-क्षिणान्नदानं त्रिभिः । एकेन वेदज्ञाययज्ञार्थं धनं देयम् । भिक्षया द्वितीयविवाहनिषेध एकेन । एकेन वेदविद्भयोधनदानम् । कामसोम्ययागाधिरीद्वाभ्याम् । भृत्यस्वजनादिस्वपोष्यान् दुःखि-तान् हित्वेतरेभ्योदाननिषेधोद्वाभ्याम् । यज्ञशेषार्थं वैश्यादिभ्यो-राजा धनं दापयेत् ब्राह्मणायेति पञ्चभिः । षडुपवासाऽनन्तरं हीनकर्मणोपि भोजनपर्याप्तं धनमाहरेदिति द्वाभ्याम् । तत्रापि ब्रह्मस्वानिषेध एकेन । असाधुधनं साधुभ्योऽर्पयेदित्येकेन । देश राज्ञेतित्रिभिः । यज्ञार्थमपि शूद्रधननिषेध एकेन । यज्ञ देव-ब्राह्मणानां धनोपघातनिषेधो द्वाभ्याम् । सोमाद्यशक्तौ वैश्वा-नरेष्टि विधिरेकेन । समर्थनापत्कल्पानुकल्पैनानुष्ठेयौ इति त्रिभिः ब्राह्मणेन वाक्शस्त्राभिचारादिना स्वसंरक्षणं कार्यं क्षत्रियवै-श्याभ्यां तु धनेनेतिचतुर्भिः । ब्राह्मणायाकुशलं गिरन्नब्रूयादित्ये-

केन । हान्यार्त्विज्याधिकारौ द्वाभ्याम् । चतुर्भिर्यज्ञदक्षिणा ।
सायम्प्रातर्होमाकरणं चाद्यमित्येकेन । शूद्रधनेनाग्निहोत्रनिंदाद्वा-
भ्याम् । द्वाभ्यां प्रायश्चित्ताधिकारी । अकामकृतवेदाभ्यासेन
कामकृतस्य प्रायश्चित्तैरित्येकेन । प्रायश्चित्तीसज्जनसंसर्गं कुर्यादि-
त्येकेन । दुश्चरितैः कुनख्यादिरूपविकृतयो भवन्त्यतः प्रायश्चित्तमिति-
सप्तभिः । पञ्चभिर्महापातकतत्समानि । अष्टभिरुपपातकानि ।
जातिभ्रंशकराणि सङ्करीकरणानि अपात्रीकरणानि मलिनीकर-
णान्येकैकशः । एकोनविंशतिभिर्ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तम् । नवभिः
सुरापानस्य । चतुर्भिर्ब्राह्मणस्वर्णस्तेयस्य । चतुर्भिर्गुरुतल्प-
गमनस्य । दशभिर्गोवधस्य । सप्तभिरवकीर्णिव्रतम् । द्वाभ्या-
ञ्जातिभ्रंशकरादिचतुर्णाम् । पञ्चभिः क्षत्रियवैश्यशूद्रवधेषु । मार्जा-
रनकुल-चाष-मण्डूक-श्व-गोधा-उलूक-काकवधे प्रायश्चित्तं द्वाभ्याम्।
सर्प-षण्ढ-वराह-तित्तिर-शुक-क्रौञ्च-हंस-बलाका-बक-बर्हि-वानर-श्येन
भास-हय-गज-अज-मेष-खर-क्रव्याद-व्याघ्रादि-अक्रव्याद-हरिणादि-
उष्ट्र-पुंश्चलीनारीणां वधे प्रायश्चित्तानि सप्तभिः । अस्थ्यन-
स्थिमत्सत्ववधे प्रायश्चित्तं द्वाभ्याम् । फलदवृक्षगुल्मवल्लीलतावी-
रुत् छेदने अन्नाद्युत्पन्नसत्व-रसाद्युत्पन्नसत्व-फलपुष्पोद्भवसत्वा-
नां हिंसायां च प्रायश्चित्तानि चतुर्भिः । षोडशभिरभक्ष्यभक्षणा-
पेयपानयोः । अष्टभिः स्तेयदोषाणाम् । दशभिरगम्यागमने ।
एकादशभिः पतितसंसर्गे । स्वकालेयज्ञोपवीताकरणे-निषिद्धशू-
द्रसेवायाम् तथाऽसत्प्रतिग्रहे च प्रायश्चित्तानि षड्भिः । व्रात्यस्तो-
मयाजन और्ध्वदैहिक अभिचार अहीनयागेषु प्रायश्चित्तमेकेन ।
एकेन शरणागताधीतवेदत्यागे । श्वसृगालादिदंशे द्वाभ्याम् ।
खरोष्ट्रयाने जलंविना जलेवा मलोत्सर्गे नित्यकर्मत्यागे स्नातक-
व्रतलोपे द्वाभ्याम् । ब्राह्मणस्य हुङ्कारे त्वङ्कारे ताडने अव-
बन्धने विनिर्जये अवगुर्य प्रहत्य च प्रायश्चित्तानि पञ्चभिः ।

पापंशक्तिश्चावेक्ष्योपायान्कुर्यात् इतिद्वाभ्याम् । प्रजापत्यं सान्त-पनं अतिकृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं पराकः चान्द्रायणं यवमध्यं यतिं शिशुं चेत्येकैकेन । द्वाभ्यां चान्द्रप्रशंसा । व्याहृतिहोमादिकर्माणि सत्याधःशयनादि व्रतानि तपोमाहात्म्यं चोच्यते षड्विंशतिभिः । अष्टादशभिस्तुरहस्यानां प्रायश्चित्तानीति ॥ अथद्वादशे ऽध्याये (१२६) श्लोकाः ॥ तत्र द्वाभ्यां कर्मफलप्राप्तेः प्रश्नोत्तरसङ्गतिः । मनोवाग्देहजकर्मणां मनःप्रवर्तकमिति द्वाभ्याम् । चतुर्भिः कर्मणां दशविधत्वम् । शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥ त्रिदण्ड क्षेत्रज्ञ भूतात्म जीवात्म तदानन्त्यानि च षड्भिः । परत्रयातनाशरीरं पुनस्तल्लयस्ततः स्थूलशरीरप्राप्त्यःद्यष्टभिः । सत्वरजस्तमसां लक्षणानि सप्तभिः । तत्कार्यलक्षणानि दशभिः । मन्दमध्योत्तमभेदैस्त्रिगुणदेहप्राप्तिरूपः संसारस्त्रिविधकर्मभिरित्येकादशभिः । निषिद्धमहापातकादिकर्मणां श्वशूकरादिगतयस्त्रिंशद्भिः । मोक्षसाधनानि षड्विधानि कर्माणि ज्ञानम् प्रवृत्त निवृत्तभेदेन कर्मद्वैविध्यञ्चेति नवभिः । आत्मज्ञानं वेदाभ्यासो वेदशास्त्रप्रशस्तिस्तर्कवाह्यानिन्दाविद्यातपसोः प्राशस्त्यं चेति चतुर्दशभिः । धर्मे प्रमाणे चतुर्भिः । शिष्टानां परिषदश्च लक्षणं सप्तभिः । द्वाभ्यामुपसंहारः । शेषैर्नवभिरात्मज्ञानस्यैव सर्वोत्कृष्टं माहात्म्यं शास्त्रसमाप्तिश्चेति ॥] सङ्कलनया द्वादशाध्यायेषु, सर्वे श्लोकाः (२६८०) सर्वाशिष्टैर्व्याख्याता इति संक्षेपः ।

स्मृतिशास्त्रस्यानुबन्धचतुष्टयविचारणे ॥
मनुस्मृतेः प्रमेयस्य संक्षेपात्संग्रहः कृतः ॥ १ ॥
इति श्रीसद्धर्मे द्विवेदिज्योतिर्विच्छ्रीशिवप्रकाशसंगृहीते
मनुस्मृतिप्रमेयनिरूपणं नाम द्वितीयः प्रचारः ॥